

शान्ति की प्यारा



शान्ति की प्यास

डा.चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा



प्रस्तावना: शांति की प्यास

संसार की इस विशाल रंगमंच पर हम सभी एक 'कठपुतली' की भाँति थिरक रहे हैं। कोई धागा सुख की ओर खींचता है, तो कोई दुःख की ओर। ८४ वर्षों की इस जीवन-यात्रा में, पत्रकारिता की आपाधापी से लेकर साहित्य के एकांत तक, मैंने केवल एक ही सत्य को सबसे ऊपर पाया है—वह है 'शांति'।

अक्सर हम धर्म को कर्मकांडों, संप्रदायों और परिभाषाओं में खोजते हैं, किंतु मेरा अनुभव कहता है कि धर्म का वास्तविक स्वरूप किसी मंदिर या मस्जिद में नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर की उस अगाध शांति में है, जहाँ 'मैं' विलीन हो जाता है और केवल 'शून्य' शेष रहता है। यह पुस्तक उसी शांति की खोज और प्राप्ति का एक दस्तावेज है।

इस कृति के माध्यम से मैंने जीवन के उन धागों को टटोलने का प्रयास किया है जो हमें नियंता से जोड़ते हैं। जब हम यह जान लेते हैं कि

'नचाने वाला' कोई और है, तो हमारे भीतर का 'कर्ता' शांत हो जाता है।
यही कर्तापन का विसर्जन ही वास्तविक शांति है।

'शांति की प्यास' केवल शब्दों का संकलन नहीं है, बल्कि यह एक
निमंत्रण है—उस ठहराव के लिए जिसे हम कोलाहल में खो चुके हैं।
यह पुस्तक उन सभी जिज्ञासुओं के लिए है जो संसार के द्वंद्वों के
बीच 'साक्षी भाव' से जीना चाहते हैं। चूँकि जागृत अवस्था में स्वयं को
देखना ही समाधि है, अतः इस पुस्तक का हर अध्याय पाठक को उसी
चैतन्य की ओर ले जाने का एक प्रयास है।

मैं इस कृति को उस अनंत नियंता के चरणों में समर्पित करता हूँ,
जिसकी उंगलियों के इशारे पर यह 'कठपुतली' आज भी अपनी लेखनी
चला रही है।

— डा.चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

लेखक एवं पत्रकार

भिवानी



नृत्य की पूर्णता और अनंत का मौन

"कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।"

१००० अध्यायों की यह लंबी और अविस्मरणीय शब्द-यात्रा आज उस बिंदु पर पहुँच गई है, जहाँ शब्द स्वयं मौन की गोद में विश्राम माँग रहे हैं। इस पुस्तक का सृजन केवल स्याही और कागज़ का मेल नहीं,

बल्कि एक साधक के हृदय का वह सूक्ष्म स्पंदन है, जिसने जीवन के हर आघात और हर खिंचाव को 'नियंता' का प्रसाद मानकर स्वीकार किया है।

इन १००० अध्यायों के माध्यम से हमने देखा कि जीवन के रंगमंच पर 'अहंकार' ही वह भारीपन है, जो हमें थकाता है। जैसे ही कठपुतली स्वयं को उन अदृश्य धागों (ईश्वरीय इच्छा) के प्रति समर्पित कर देती है, उसका हर कदम एक लयबद्ध कविता बन जाता है। इस यात्रा का सार किसी शास्त्र को रटने में नहीं, बल्कि 'जागृत अवस्था' में स्वयं के साक्षी होने में है।

'शांति की प्यास'—यह शीर्षक मात्र एक वाक्य नहीं, बल्कि एक अनुभव की पराकाष्ठा है। जब 'मैं' का शोर शांत होता है, तब 'शून्य' का संगीत सुनाई देता है। पत्रकारिता की तार्किकता से लेकर साहित्य की संवेदनशीलता तक, मेरा अनुभव यही कहता है कि संसार की सारी भाग-दौड़ का अंतिम गंतव्य 'शांति' ही है। यदि हृदय में शांति नहीं, तो सारा वैभव व्यर्थ है; और यदि भीतर शांति है, तो अभाव में भी उत्सव है।

इस महाग्रंथ के पूर्ण होने पर, मैं उन सभी अदृश्य प्रेरणाओं को नमन करता हूँ जिन्होंने मेरी लेखनी को थामे रखा। यह पुस्तक उन सभी जिज्ञासुओं के लिए एक प्रकाश-स्तंभ बनेगी, जो संसार के कोलाहल के बीच अपना 'स्वधर्म' और 'स्व-केंद्र' खोजना चाहते हैं।

अब, जब अंतिम अध्याय का धागा भी नियंता के चरणों में अर्पित हो चुका है, तो भीतर केवल एक अगाध और अनंत सन्नाटा शेष है। यही वह 'कर' (Peace tax) है जो हमने जीवन से वसूल किया है और यही वह 'उपहार' है जो मैं समाज को सौंप रहा हूँ।

नृत्य पूर्ण हुआ, दृष्टा जागृत है। अब शान्ति केवल शेष है.



1. शांति ही सार है

शांति कोई बाहरी वस्तु नहीं बल्कि आत्मा का मूल स्वभाव है। संसार की समस्त भागदौड़ के अंत में मनुष्य केवल शांति ही चाहता है।

2. आकाश में बादल और साक्षी चेतना

जैसे आकाश में बादल आते-जाते हैं पर आकाश वैसा ही रहता है, वैसे ही विचार बादलों की तरह हैं और हमारी चेतना वह अनंत आकाश है।

3. रोते आए हंसते जाना

जन्म के समय बालक रोता है, पर जीवन की सार्थकता इसमें है कि व्यक्ति इस संसार से मुस्कुराते हुए विदा हो।

4. चेतन का दुख

जब तक मनुष्य अपनी चेतना को बाहरी वस्तुओं से जोड़कर रखता है, तब तक वह दुख का अनुभव करता है।

5. प्रकृति की कठपुतली

मनुष्य अक्सर प्रकृति के गुणों के अधीन होकर कार्य करता है, जैसे कोई कठपुतली डोर से बंधी हो।

6. मोक्ष की प्रकृति

मोक्ष कहीं बाहर नहीं, बल्कि स्वयं के भीतर की परतंत्रता से मुक्ति का नाम है।

7. शांति व्यक्तिगत खोज

सत्य और शांति उधार नहीं लिए जा सकते, यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी और मौलिक खोज है।

8. प्रकृति की डोर देखना

साक्षी भाव से जब हम अपने कर्मों और विचारों की डोर को देखते हैं, तब हमें प्रकृति के खेल की समझ आती है।

9. प्रकृति परमात्मा की अभिव्यक्ति

यह दृश्य जगत उस अदृश्य परमात्मा का ही सगुण रूप है।

10. जड़ चेतन का अपना अनुभव

अनुभव ही सबसे बड़ा शिक्षक है। शास्त्रों का ज्ञान तब तक निर्जीव है जब तक वह स्वयं का अनुभव न बन जाए।

११. पुनर्जन्म का रहस्य पुनर्जन्म केवल शरीर का बदलना है। आत्मा एक वस्त्र त्यागकर दूसरा धारण करती है ताकि अधूरे अनुभवों को पूरा कर सके।

१२. कर्म और उसका फल मनुष्य जो भी बीज बोता है, उसे ही काटना पड़ता है। कर्म का फल अटल है, पर जागृति से इसके प्रभाव को बदला जा सकता है।

१३. वर्तमान की शक्ति जीवन न तो बीते हुए कल में है और न आने वाले कल में। जीवन केवल इसी क्षण में है, जो अभी हमारे पास है।

१४. मन की चंचलता मन हवा की तरह चंचल है, लेकिन अभ्यास और वैराग्य से इसे स्थिर किया जा सकता है। स्थिर मन ही सत्य का दर्पण बनता है।

१५. दुख का मूल कारण अज्ञानता और आसक्ति ही समस्त दुखों की जड़ है। जब हम स्वयं को शरीर और विचारों से अलग समझते हैं, तो दुख मिटने लगता है।

१६. करुणा और प्रेम सच्चा धर्म करुणा में बसता है। जब हृदय में प्रेम का उदय होता है, तो सारा संसार अपना ही विस्तार लगने लगता है।

१७. गुरु की महिमा गुरु वह प्रकाश है जो अज्ञान के अंधेरे को दूर करता है। गुरु केवल रास्ता दिखाता है, चलना स्वयं को ही पड़ता है।

१८. मौन की भाषा जहाँ शब्द समाप्त होते हैं, वहाँ से मौन का संगीत शुरू होता है। गहरे मौन में ही परमात्मा की वाणी सुनाई देती है।

१९. सत्य की खोज सत्य कहीं बाहर नहीं छिपा है, वह हमारे भीतर ही है। बस हमें उन परतों को हटाना है जो हमने अहंकार से बनाई हैं।

२०. श्रद्धा और विश्वास बिना श्रद्धा के अध्यात्म की यात्रा संभव नहीं है। विश्वास वह शक्ति है जो असंभव को भी संभव बना देती है।

११. पुनर्जन्म का रहस्य पुनर्जन्म केवल शरीर का बदलना है। आत्मा एक वस्त्र त्यागकर दूसरा धारण करती है ताकि अधूरे अनुभवों को पूरा कर सके।

१२. कर्म और उसका फल मनुष्य जो भी बीज बोता है, उसे ही काटना पड़ता है। कर्म का फल अटल है, पर जागृति से इसके प्रभाव को बदला जा सकता है।

१३. वर्तमान की शक्ति जीवन न तो बीते हुए कल में है और न आने वाले कल में। जीवन केवल इसी क्षण में है, जो अभी हमारे पास है।

१४. मन की चंचलता मन हवा की तरह चंचल है, लेकिन अभ्यास और वैराग्य से इसे स्थिर किया जा सकता है। स्थिर मन ही सत्य का दर्पण बनता है।

१५. दुख का मूल कारण अज्ञानता और आसक्ति ही समस्त दुखों की जड़ है। जब हम स्वयं को शरीर और विचारों से अलग समझते हैं, तो दुख मिटने लगता है।

१६. करुणा और प्रेम सच्चा धर्म करुणा में बसता है। जब हृदय में प्रेम का उदय होता है, तो सारा संसार अपना ही विस्तार लगने लगता है।

१७. गुरु की महिमा गुरु वह प्रकाश है जो अज्ञान के अंधेरे को दूर करता है। गुरु केवल रास्ता दिखाता है, चलना स्वयं को ही पड़ता है।

१८. मौन की भाषा जहाँ शब्द समाप्त होते हैं, वहाँ से मौन का संगीत शुरू होता है। गहरे मौन में ही परमात्मा की वाणी सुनाई देती है।

१९. सत्य की खोज सत्य कहीं बाहर नहीं छिपा है, वह हमारे भीतर ही है। बस हमें उन परतों को हटाना है जो हमने अहंकार से बनाई हैं।

२०. श्रद्धा और विश्वास बिना श्रद्धा के अध्यात्म की यात्रा संभव नहीं है। विश्वास वह शक्ति है जो असंभव को भी संभव बना देती है।

३१. अंतर्यात्रा की शुरुआत: बाहरी जगत की दौड़ से थककर जब मनुष्य अपने भीतर कदम रखता है, तभी वास्तविक आध्यात्मिक यात्रा शुरू होती है।

३२. सहजता का मार्ग: अध्यात्म कोई कठिन श्रम नहीं, बल्कि सहज होने की कला है। जैसे फूल बिना प्रयास के खिलता है, वैसे ही आत्मा का विकास सहजता में होता है।

३३. विचारों का साक्षी: हम विचार नहीं हैं, हम वह हैं जो विचारों को देख रहा है। इस दूरी को समझ लेना ही शांति की ओर पहला कदम है।

३४. अहंकार का विसर्जन: अहंकार वह दीवार है जो हमें परमात्मा से अलग रखती है। जब यह दीवार गिरती है, तो केवल अनंत अस्तित्व ही शेष रह जाता है।

- ३५. करुणा का सागर: ज्ञान जब हृदय में उतरता है, तो वह करुणा बन जाता है। दूसरों के दुख में अपना दुख देखना ही धर्म की पराकाष्ठा है।
- ३६. मन का सन्नाटा: शब्दों के शोर के पीछे एक गहरा सन्नाटा है। उस सन्नाटे को पकड़ना ही ध्यान की गहराई है।
- ३७. समाधि की अवस्था: जब दृष्टा, दृश्य और दर्शन एक हो जाते हैं, तब समाधि घटित होती है। यह पूर्ण जागरण की अवस्था है।

- ३८. सहज समाधि: जो समाधि आँखें बंद करके नहीं, बल्कि आँखें खोलकर काम करते हुए भी बनी रहे, वही वास्तविक सहज समाधि है।
- ३९. द्वंद्वों से मुक्ति: राग-द्वेष, सुख-दुख और लाभ-हानि से ऊपर उठकर समभाव में स्थित होना ही जीवन की सार्थकता है।
- ४०. आत्मा का संगीत: हर हृदय में एक अनहद नाद गूँज रहा है। जब मन शांत होता है, तब वह सूक्ष्म संगीत स्पष्ट सुनाई देने लगता है।

४१. मौन का वैभव: वाणी का मौन केवल शुरुआत है, जब विचारों का कोलाहल भी थम जाता है, तब वह परम मौन प्रकट होता है जिसे शब्दों में नहीं बांधा जा सकता।

- ४२. स्व-अनुशासन और स्वतंत्रता: वास्तविक स्वतंत्रता मनमानी करने में नहीं, बल्कि अपने इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने में है। अनुशासित मन ही सत्य की ओर बढ़ सकता है।
- ४३. शून्य की तलाश: शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' होना नहीं है, बल्कि 'सब कुछ' के होने की अनंत संभावना है। यह वह केंद्र है जहाँ से सृष्टि का विस्तार होता है।
- ४४. शून्य का आध्यात्मिक अर्थ: जब साधक के भीतर से 'मैं' का भाव पूरी तरह मिट जाता है, तब जो शेष बचता है, वही दिव्य शून्य है।
- ४५. निराकार की उपासना: ईश्वर किसी एक रूप या आकार तक सीमित नहीं है। वह तो उस आकाश की तरह है जो हर वस्तु को अपने भीतर समेटे हुए है।
- ४६. आत्म-बोध का प्रकाश: जैसे सूरज निकलने पर अंधेरा अपने आप मिट जाता है, वैसे ही आत्म-ज्ञान होते ही अज्ञान के सारे भ्रम स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

- ४७. अनासक्ति का योग: संसार की वस्तुओं का उपयोग करना बुरा नहीं है, पर उनमें इस तरह डूब जाना कि स्वयं को भूल जाएँ, यही बंधन है।
- ४८. जीवन एक उत्सव: जब हृदय शांति से भरा होता है, तो जीवन का हर पल, हर सांस और हर कार्य एक उत्सव बन जाता है।
- ४९. अहंकार की सूक्ष्म परतें: अहंकार कभी-कभी ज्ञान और सेवा का मुखौटा पहनकर भी आता है। साधक को इन सूक्ष्म परतों के प्रति सदैव सजग रहना चाहिए।
- ५०. समता का भाव: शत्रु और मित्र, मान और अपमान में एक जैसा रहना ही वास्तविक योग है। यही शांति का सच्चा मार्ग है।
- ५१. ऊर्जा का रूपांतरण: क्रोध और वासना जैसी ऊर्जाओं को जब दबाया नहीं जाता, बल्कि जागरूकता के साथ देखा जाता है, तो वे करुणा और प्रेम में बदल जाती हैं।
- ५२. कुंडली जागरण का सत्य: यह कोई चमत्कार नहीं, बल्कि चेतना का एक स्तर से दूसरे ऊँचे स्तर पर आरोहण है। जब प्राण शक्ति सुषुम्ना में बहती है, तब साधक का नया जन्म होता है।
- ५३. नाद ब्रह्म: समस्त सृष्टि एक सूक्ष्म कंपन है। उस अनादि ध्वनि को सुनना ही परमात्मा के संगीत में डूब जाना है।
- ५४. प्रकाश की ओर कदम: अज्ञान का अंधेरा कितना ही पुराना क्यों न हो, ज्ञान का एक छोटा सा दीपक उसे क्षण भर में मिटा देता है।
- ५५. चित्त की शुद्धि: जैसे गंदे दर्पण में चेहरा साफ नहीं दिखता, वैसे ही मलिन चित्त में सत्य का प्रतिबिंब नहीं पड़ता। निष्काम कर्म ही चित्त को शुद्ध करता है।

- ५६. निर्विचार की अवस्था: जब विचारों की लहरें शांत हो जाती हैं, तब मन का सरोवर स्थिर हो जाता है और उसमें परमात्मा का दर्शन संभव होता है।
- ५७. सत्य का साक्षात्कार: सत्य कोई सूचना नहीं है जिसे पढ़ा जा सके, यह तो एक अनुभूति है जिसे केवल जीया जा सकता है।
- ५८. आत्म-निर्भरता: अध्यात्म का मार्ग किसी और के कंधों पर चलकर तय नहीं होता। दीपो भव—अपना दीपक स्वयं बनो।
- ५९. सादगी का सौंदर्य: जितना हम अनावश्यक वस्तुओं और विचारों को छोड़ते जाते हैं, उतने ही हम हल्के और आनंदित होते जाते हैं।
- ६०. पूर्णता का अनुभव: हम पहले से ही पूर्ण हैं, बस हमने स्वयं को अपूर्ण मान लिया है। इस भ्रान्ति का टूटना ही पूर्णता की प्राप्ति है।

६१. अंतर्मन की गहराइयाँ: जैसे समुद्र की सतह पर लहरें होती हैं पर गहराई में शांति, वैसे ही मन के शोर के नीचे एक अगाध शांति का सागर है।

- ६२. अहंकार और अस्मिता: 'मैं' का भाव ही सबसे बड़ा बंधन है। जब यह विसर्जित होता है, तभी विराट सत्ता से मिलन संभव है।
- ६३. बिना नाविक की नाव: जीवन को जब हम अस्तित्व के भरोसे छोड़ देते हैं और स्वयं कर्ता नहीं बनते, तब जीवन सहज प्रवाह बन जाता है।
- ६४. बोध का उदय: ज्ञान बाहर से आता है, पर बोध भीतर से जागता है। बोध ही वह क्रांति है जो जीवन की दिशा बदल देती है।
- ६५. शून्य अवस्था: यह वह बिंदु है जहाँ न कोई विचार है, न कोई इच्छा, न कोई स्मृति। यही परम विश्राम की अवस्था है।

- ६६. मौन का आईना: गहरे मौन में ही हम अपना असली चेहरा देख पाते हैं। शब्दों के बिना भी संवाद की एक सूक्ष्म भाषा होती है।
- ६७. चेतना का विस्तार: जब हम केवल 'स्व' तक सीमित नहीं रहते और पूरे ब्रह्मांड को अपना हिस्सा मानने लगते हैं, तब चेतना का विस्तार होता है।
- ६८. सहज योग: कठिन आसनों से अधिक महत्वपूर्ण है मन का सहज होना। जो स्वभाव में है, वही योग है।
- ६९. समय और कालजयी सत्ता: शरीर समय के अधीन है, पर आत्मा कालजयी है। इस सत्य को जानना ही मृत्यु के भय से मुक्ति है।
- ७०. अस्तित्व का उत्सव: पूरा अस्तित्व नृत्य कर रहा है। जब हम अपनी लय को इस सार्वभौमिक लय से मिला देते हैं, तो दुख मिट जाता है।

७१. विचार और निर्विचार के बीच: विचार एक लहर है और निर्विचार वह समुद्र। लहरों के शांत होते ही समुद्र की गहराई स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

- ७२. अस्तित्व का संगीत: पूरा ब्रह्मांड एक लय में है। जब मनुष्य अपने भीतर के कोलाहल को शांत करता है, तभी वह इस ईश्वरीय संगीत को सुन पाता है।
- ७३. प्रेम का विस्तार: प्रेम कोई बंधन नहीं, बल्कि मुक्ति का द्वार है। जब प्रेम में 'स्व' मिटता है, तभी वह भक्ति बन जाता है।
- ७४. अकर्ता का भाव: कर्म करते हुए भी यह बोध रहना कि 'मैं' नहीं कर रहा, बल्कि प्रकृति के गुणों के कारण कार्य हो रहा है, यही अकर्ता भाव है।

- ७५. चेतना का आरोहण: जैसे-जैसे ध्यान गहरा होता है, चेतना निम्न केंद्रों से उठकर उच्च केंद्रों की ओर बढ़ती है, जिससे नई अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं।
- ७६. शून्य का मंदिर: जहाँ कोई मूर्ति नहीं, कोई विचार नहीं, केवल पूर्ण रिक्तता है, वही असली मंदिर है। वहाँ पहुँचकर ही मनुष्य पूर्ण होता है।
- ७७. अनहद नाद और शून्यता: वह ध्वनि जो बिना किसी आघात के पैदा होती है, वह शून्य के गर्भ से ही आती है। इसे सुनना ही योग की सफलता है।
- ७८. द्वंद्व से समता की ओर: संसार विरोधों का मेल है। इन विरोधों के बीच संतुलन बनाए रखना ही शांति का मार्ग है।
- ७९. सहज मार्ग का राही: अध्यात्म कोई बोझ नहीं है। इसे सहज भाव से, खेल-खेल में जीना ही असली साधना है।
- ८०. अज्ञान का स्वीकार: जिस दिन मनुष्य अपनी अज्ञानता को पूरी तरह स्वीकार कर लेता है, उसी दिन से वास्तविक ज्ञान के द्वार खुल जाते हैं।

८१. साक्षी का जागरण: जब हम अपने ही विचारों को एक तटस्थ दर्शक की तरह देखने लगते हैं, तो वे अपनी शक्ति खो देते हैं और हम मुक्त हो जाते हैं।

- ८२. अस्तित्व की पुकार: हर घटना, हर फूल और हर सितारा हमें उस विराट सत्ता की ओर इशारा कर रहा है। बस हमें सुनने वाली आँखें चाहिए।
- ८३. शब्द से निशब्द की ओर: शब्द केवल संकेत हैं, वे सत्य नहीं हैं। सत्य तो उस निशब्द गहराई में छिपा है जहाँ शब्द पहुँच नहीं पाते।

- ८४. चेतना का दर्पण: यदि मन का दर्पण साफ़ है, तो उसमें परमात्मा का प्रतिबिंब स्वतः ही स्पष्ट दिखाई देने लगता है।
- ८५. अहंकार की व्यर्थता: अहंकार उस कुहासे की तरह है जो सूरज को नहीं ढकता, बल्कि हमारी आँखों के सामने एक पर्दा डाल देता है।
- ८६. सहज स्वीकार: जीवन जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लेना ही सबसे बड़ी तपस्या है। विरोध ही दुख की जड़ है।
- ८७. अंतहीन यात्रा: अध्यात्म की कोई मंजिल नहीं है, यह तो हर पल नया होने और खिलने की एक अनंत प्रक्रिया है।
- ८८. शून्य का आनंद: जब हम कुछ भी नहीं होते, तब हम सब कुछ हो जाते हैं। यही शून्य का परम आनंद है।
- ८९. चित्त की स्थिरता: लहरों के शांत होने पर ही समुद्र की गहराई मापी जा सकती है, वैसे ही स्थिर चित्त में ही सत्य उतरता है।
- ९०. असीम का अनुभव: सीमाओं में बँधा मन कभी असीम को नहीं जान सकता। सीमाओं को तोड़ना ही साधना का मुख्य लक्ष्य है।

९१. दृष्टा की स्थिति: जब हम केवल देखने वाले बन जाते हैं और दृश्य में नहीं उलझते, तब संसार का सारा तनाव स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

- ९२. अहंकार का अंत: अहंकार के मिटते ही जो शेष बचता है, वही अमृत है। मृत्यु केवल अहंकार की होती है, आत्मा की नहीं।
- ९३. वर्तमान की सत्ता: अतीत एक स्मृति है और भविष्य एक कल्पना। सत्य केवल इसी वर्तमान क्षण की गहराई में छिपा है।

- ९४. मौन का संगीत: जो कानों से नहीं, बल्कि आत्मा से सुना जाता है, वही अनहद नाद है। वह शून्य के सन्नाटे में ही गूँजता है।
- ९५. अंतर्मखी यात्रा: बाहर की सारी यात्राएँ केवल मन का विस्तार हैं। वास्तविक यात्रा तो भीतर के उस केंद्र की ओर है जहाँ से हम आए हैं।
- ९६. सहजता का योग: जब प्रयास समाप्त हो जाता है और केवल होना शेष रह जाता है, तब सहज योग घटित होता है।
- ९७. शून्य का आकर्षण: जैसे नदियाँ समुद्र की ओर खिंची चली जाती हैं, वैसे ही शांत मन स्वाभाविक रूप से शून्य की ओर आकर्षित होता है।
- ९८. द्वंद्व से परे: जहाँ कोई 'दूसरा' नहीं है, वहाँ कोई संघर्ष भी नहीं है। अद्वैत में ही परम शांति का निवास है।
- ९९. आत्म-बोध की किरण: ज्ञान की एक किरण ही काफी है सदियों पुराने अज्ञान के अंधेरे को दूर करने के लिए।
- १००. पूर्णता का द्वार: जिस दिन हम अपनी अपूर्णता को स्वीकार कर लेते हैं, उसी दिन पूर्णता का द्वार खुल जाता है।

१०१. जीवन की धारा: जीवन एक बहती हुई नदी की तरह है। जो इसे पकड़ने की कोशिश करता है, वह दुखी होता है, और जो इसके साथ बहता है, वही पार उतरता है।

- १०२. संस्कारों का बंधन: हमारे पुराने विचार और आदतें ही संस्कार हैं जो हमें घेरे रहते हैं। सजगता की अग्नि में ही ये संस्कार भस्म हो सकते हैं।
- १०३. कोरा कागज़: साधना का अर्थ है मन को फिर से कोरा कागज़ बना देना, ताकि उस पर अस्तित्व का असली संदेश लिखा जा सके।

- १०४. धर्म और अमनः सच्चा धर्म वही है जो मनुष्य के भीतर अमन (शांति) पैदा करे। यदि धर्म से घृणा पैदा हो, तो वह धर्म नहीं, अहंकार है।
- १०५. बुद्ध का मार्गः भगवान बुद्ध ने कहा था कि संसार दुख है, पर इस दुख से पार जाने का मार्ग हमारे अपने भीतर की करुणा और प्रज्ञा है।
- १०६. आसक्ति का त्यागः वस्तुओं का होना बुरा नहीं है, लेकिन उनके साथ 'मेरा' का भाव जुड़ जाना ही सारे क्लेशों की जड़ है।
- १०७. आंतरिक अनुशासनः बाहर से थोपा गया अनुशासन गुलामी है, लेकिन भीतर से जागा हुआ विवेक ही वास्तविक अनुशासन है।
- १०८. सत्य की निर्भीकताः जो सत्य को जान लेता है, वह निर्भय हो जाता है। भय केवल वहीं है जहाँ अज्ञान और परायापन है।
- १०९. क्षण-भंगुरता का बोधः यह संसार हर पल बदल रहा है। इस बदलाव को स्वीकार कर लेना ही स्थिरता की ओर पहला कदम है।
- ११०. आत्म-तृप्तिः बाहर की कोई भी वस्तु आत्मा को तृप्त नहीं कर सकती। स्वयं में संतुष्ट होना ही सबसे बड़ा ऐश्वर्य है।

१११. साक्षी की गहराईः केवल बाहरी घटनाओं को ही नहीं, बल्कि अपने भीतर उठने वाले क्रोध और लोभ को भी एक साक्षी की तरह देखना ही वास्तविक साधना है।

- ११२. अस्तित्व का भरोसाः जब हम अपनी छोटी सी बुद्धि को किनारे रखकर उस विराट अस्तित्व पर भरोसा करते हैं, तो जीवन का सारा बोझ उतर जाता है।

- ११३. प्रेम और वासना: वासना लेने का नाम है और प्रेम देने का। जब वासना समाप्त होती है, तभी प्रेम का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है।
- ११४. कर्मयोग की सहजता: फल की चिंता किए बिना अपना कार्य पूरी तन्मयता से करना ही कर्मयोग है। यही शांति का व्यावहारिक रूप है।
- ११५. शब्द और मौन का संवाद: शब्द केवल इशारा करते हैं, लेकिन जो इशारा किया जा रहा है, वह केवल मौन की गहराई में ही अनुभव किया जा सकता है।
- ११६. आत्म-निरीक्षण: प्रतिदिन कुछ समय स्वयं के साथ बैठना और अपने विचारों का अवलोकन करना ही आत्म-ज्ञान की पहली सीढ़ी है।
- ११७. करुणा का विस्तार: जब हम दूसरे के दुख को अपना दुख समझने लगते हैं, तब हमारे भीतर की संकीर्णता समाप्त हो जाती है और करुणा का उदय होता है।
- ११८. अद्वैत का अनुभव: 'मैं' और 'तू' के बीच की दूरी ही संसार है। इस दूरी का मिट जाना ही अद्वैत की स्थिति है।
- ११९. जीवन एक दर्पण: संसार हमें वैसा ही दिखता है जैसे हम भीतर से हैं। यदि भीतर शांति है, तो सारा संसार शांत और सुंदर प्रतीत होता है।
- १२०. अज्ञान का विसर्जन: ज्ञान को इकट्ठा करना अध्यात्म नहीं है, बल्कि अज्ञान की परतों को एक-एक करके हटाना ही असली अध्यात्म है।

१२१. द्वंद्व और समाधान: जीवन में द्वंद्व (उलझन) तब तक है जब तक हम दो में बँटे हैं। चुनाव रहित जागरूकता (Choiceless Awareness) ही हर मानसिक संघर्ष का वास्तविक समाधान है।

- १२२. सहज स्वीकार की शक्ति: जो घट रहा है उसे पूरी तरह स्वीकार कर लेना ही सबसे बड़ी प्रार्थना है। प्रतिरोध ही तनाव को जन्म देता है, स्वीकार ही शांति को।
- १२३. अहंकार की सूक्ष्म चालें: अहंकार कभी-कभी बहुत धार्मिक और परोपकारी बनकर भी आता है। साधक को अपनी 'साधुता' के अहंकार से भी बचना चाहिए।
- १२४. आत्मा की निर्लिप्तता: जैसे कमल का पत्ता पानी में रहकर भी गीला नहीं होता, वैसे ही सजग व्यक्ति संसार में रहते हुए भी उसके विकारों से अछूता रहता है।
- १२५. समय का सदुपयोग: समय केवल बीत नहीं रहा, वह हमें अवसर दे रहा है स्वयं को जानने का। हर क्षण जो बीत गया, वह दोबारा लौटकर नहीं आता।
- १२६. विचार और ऊर्जा: एक नकारात्मक विचार हमारी बहुत सी जीवनी शक्ति (Prana) को नष्ट कर देता है। सकारात्मकता और मौन ऊर्जा का संचय करते हैं।
- १२७. सत्य की सादगी: सत्य बहुत सरल है, उसे जटिल हमारा मन बनाता है। जटिलता अहंकार की भाषा है, सरलता परमात्मा की।
- १२८. मृत्यु का संदेश: मृत्यु हमें यह याद दिलाने आती है कि यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है। यह बोध हमें जीवन को गहराई और सार्थकता से जीने की प्रेरणा देता है।
- १२९. भीतर का प्रकाश: हमें बाहर से किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। हमारे भीतर ही वह ज्योति जल रही है जो हमें सही मार्ग दिखा सकती है।
- १३०. अद्वैत दर्शन और शांति: जब 'दूसरा' कोई बचता ही नहीं, तो भय और ईर्ष्या किससे? अद्वैत का अनुभव ही परम शांति का आधार है।

- १३१. चेतना का जागरण: जैसे सुबह होने पर नींद टूटती है, वैसे ही बोध होने पर संसार का स्वप्न टूट जाता है। जागना ही साधना का एकमात्र लक्ष्य है।
- १३२. निष्काम कर्म का आनंद: फल की इच्छा ही बंधन है। जब हम केवल कार्य के आनंद के लिए कार्य करते हैं, तो वही सेवा और पूजा बन जाता है।
- १३३. मन की गहराइयाँ: मन एक अगाध समुद्र है। ऊपर लहरें (विचार) हैं, पर नीचे गहराई में पूर्ण निस्तब्धता है। उस गहराई में उतरना ही ध्यान है।
- १३४. अहंकार का रूपांतरण: अहंकार को दबाना नहीं, बल्कि उसे समझकर विसर्जित करना है। समझ की रोशनी में अहंकार का अँधेरा टिक नहीं पाता।
- १३५. सहज भक्ति: परमात्मा कहीं दूर नहीं है। उसे पाने के लिए किसी कर्मकांड की नहीं, केवल एक निर्मल और सरल हृदय की आवश्यकता है।
- १३६. सत्य और असत्य का विवेक: जो बदलता है वह असत्य है, और जो सदा एक जैसा रहता है वही सत्य है। इस विवेक से ही शांति का जन्म होता है।
- १३७. मौन का अमृत: वाणी का मौन तो केवल द्वार है, जब भीतर के विचार भी मौन हो जाते हैं, तब अमृत की वर्षा होती है।
- १३८. अस्तित्व की पूर्णता: हम कुछ भी नया प्राप्त नहीं करते, हम केवल उस पूर्णता को पहचानते हैं जो हमारे भीतर पहले से ही मौजूद है।
- १३९. द्वंद्वहीन अवस्था: जहाँ 'हाँ' और 'ना' का संघर्ष समाप्त हो जाता है, वहाँ एक ऐसी स्थिति आती है जिसे बुद्ध ने 'मध्यम मार्ग' कहा है।

- १४०. शून्य का दर्शन: शून्य का अर्थ अभाव नहीं, बल्कि पूर्णता है। यह वह महासागर है जिसमें सारी सृष्टियाँ लहरों की तरह उठती और समा जाती हैं।

१४१. चेतना का असीम विस्तार: हमारी चेतना शरीर की सीमाओं में बँधी नहीं है। ध्यान के माध्यम से जब हम इन सीमाओं को लाँघते हैं, तब हम पूरे ब्रह्मांड के साथ एक हो जाते हैं।

- १४२. अहंकार की सूक्ष्म बेड़ियाँ: कभी-कभी हम अपनी त्याग और सेवा का भी अहंकार करने लगते हैं। यह सूक्ष्म अहंकार स्थूल अहंकार से भी अधिक खतरनाक है।
- १४३. प्रकृति और पुरुष का खेल: यह सारा संसार प्रकृति के गुणों का नाच है। जो इस नाच को देख रहा है, वह 'पुरुष' (द्रष्टा) अछूता और शांत है।
- १४४. सहज भाव का अमृत: बनावट और प्रदर्शन से मुक्त होकर अपने असली स्वरूप में जीना ही सबसे बड़ी साधना और सबसे बड़ा अमृत है।
- १४५. विचारों का विसर्जन: विचार केवल साधन हैं, साध्य नहीं। जब विचार विसर्जित होते हैं, तभी सत्य का साक्षात्कार होता है।
- १४६. अद्वैत की अनुभूति: जहाँ 'मैं' और 'परमात्मा' के बीच का पर्दा गिर जाता है, वहीं से वास्तविक भक्ति और ज्ञान की शुरुआत होती है।
- १४७. मौन का प्रभाव: शब्दों से अधिक प्रभाव मौन में होता है। जो बात शब्द नहीं समझा सकते, वह एक गहरा मौन समझा देता है।
- १४८. जीवन का केंद्र: हम परिधि (बाहरी दुनिया) पर बहुत जीते हैं। अब समय है अपने केंद्र (आत्मा) की ओर लौटने का, जहाँ शाश्वत शांति है।

- १४९. द्वंद्व से मुक्ति: सुख-दुख और लाभ-हानि को एक समान भाव से देखना ही मानसिक गुलामी से मुक्ति का मार्ग है।
- १५०. शून्य की शांति: शून्य वह विश्राम स्थल है जहाँ पहुँचकर मन की सारी थकान मिट जाती है। यही मोक्ष का द्वार है।

१५१. सजगता की किरण: जैसे सूरज की एक किरण अंधेरे को चीर देती है, वैसे ही हमारी सजगता की एक छोटी सी झलक भी वर्षों पुरानी आदतों के जाल को काट देती है।

- १५२. मन का विसर्जन: मन को शांत करना कठिन है, लेकिन उसे 'देखना' सरल है। देखते-देखते ही मन विसर्जित होने लगता है और शांति का उदय होता है।
- १५३. समर्पण का विज्ञान: समर्पण का अर्थ आलस्य नहीं, बल्कि अहंकार को किनारे रखकर उस विराट सत्ता के साथ अपनी लय मिला लेना है।
- १५४. जीवन एक नदी: नदी कभी पीछे नहीं मुड़ती। जीवन भी केवल आगे बहने का नाम है। पुरानी यादों को पकड़ना ही दुख का कारण है।
- १५५. आत्मा का निस्वार्थ स्वरूप: हमारी आत्मा का स्वभाव केवल देना है। सूर्य बिना मांगे प्रकाश देता है, फूल बिना मांगे खुशबू; वैसे ही आत्मा निस्वार्थ सेवा में ही खिलती है।
- १५६. मौन की गहराई: जब हम बाहर से चुप होते हैं, तो भीतर का शोर सुनाई देता है। जब भीतर का शोर चुप होता है, तो परमात्मा की आवाज़ सुनाई देती है।
- १५७. सहज योग की अनुभूति: योग कोई शारीरिक व्यायाम मात्र नहीं है, बल्कि अपने अस्तित्व के साथ पूरी तरह 'जुड़' जाना ही वास्तविक योग है।

- १५८. सत्य की निर्विकारता: सत्य कभी बदलता नहीं। जो समय के साथ बदल जाए, वह सत्य नहीं, केवल एक विचार या परिस्थिति है।
- १५९. द्वंद्व से समरसता की ओर: संसार में द्वंद्व अनिवार्य है, पर हमारे भीतर एक ऐसी जगह है जहाँ कोई द्वंद्व नहीं है। उस केंद्र पर टिकना ही समरसता है।
- १६०. संस्कारों की कहानी: हम जो कुछ भी आज हैं, वह हमारे बीते हुए कल के संस्कारों का फल है। नए और शुद्ध संस्कारों से हम अपने भविष्य का निर्माण कर सकते हैं।
- १६१. साक्षी भाव और संसार: संसार एक रंगमंच है और हम इसके पात्र। जो व्यक्ति अभिनय करते हुए भी यह याद रखता है कि वह केवल एक पात्र है, वही दुखों से अछूता रहता है।
- १६२. अंतर्नाद की गूँज: जब बाहर का शोर थम जाता है, तब हृदय की गहराइयों में एक सूक्ष्म नाद सुनाई देता है। यह नाद ही परमात्मा का साक्षात् निमंत्रण है।
- १६३. अहंकार की छाया: छाया शरीर के साथ चलती है पर शरीर नहीं होती। वैसे ही अहंकार आत्मा के साथ आभास मात्र है, वास्तविकता नहीं। इसे पहचानते ही यह विदा हो जाता है।
- १६४. सहज वैराग्य: वस्तुओं को बलपूर्वक छोड़ना वैराग्य नहीं है, बल्कि उनकी व्यर्थता को समझकर उनसे मोह का स्वतः छूट जाना ही सच्चा वैराग्य है।
- १६५. कोरा कागज़: साधना का उच्चतम शिखर है मन का पूरी तरह रिक्त हो जाना। जब मन कोरा कागज़ बन जाता है, तभी उस पर शाश्वत सत्य की इबारत लिखी जाती है।
- १६६. वर्तमान का द्वार: मुक्ति कहीं भविष्य में नहीं छिपी है। वह तो इसी क्षण के द्वार पर खड़ी प्रतीक्षा कर रही है। बस हमें वर्तमान में पूरी तरह उपस्थित होना है।

- १६७. चेतना का अमृत: शरीर नश्वर है, पर चेतना अमृतमयी है। जो स्वयं को शरीर से अलग अनुभव कर लेता है, वह मृत्यु के भय से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।
- १६८. शून्य का संगीत: जहाँ कोई राग-द्वेष नहीं, कोई विचार की तरंग नहीं, वहाँ शून्य का संगीत गूँजता है। यह संगीत ही परम शांति का आधार है।
- १६९. आत्म-बोध की अग्नि: जैसे अग्नि सब कुछ भस्म कर देती है, वैसे ही आत्म-बोध की अग्नि सारे संशयों और अज्ञान के पर्दों को जलाकर राख कर देती है।
- १७०. सहजता का पथ: सत्य बहुत सरल है। इसे पाने के लिए जटिल विधियों की नहीं, बल्कि एक सरल और निष्कपट हृदय की आवश्यकता है।
- १७१. चेतना का जागरण: जैसे सुबह होने पर नींद टूटती है, वैसे ही बोध होने पर संसार का मोह-स्वप्न टूट जाता है। निरंतर सजग रहना ही परम जागरण है।
- १७२. अहंकार का अंत: अहंकार के मिटते ही जो शेष बचता है, वही अमृत है। मृत्यु केवल अहंकार की होती है, आत्मा की नहीं, वह तो अजन्मा और अविनाशी है।
- १७३. वर्तमान की सत्ता: अतीत एक स्मृति है और भविष्य एक कल्पना। सत्य केवल इसी वर्तमान क्षण की गहराई में छिपा है, जो इसे जी लेता है वह मुक्त है।
- १७४. मौन का संगीत: जो कानों से नहीं, बल्कि आत्मा से सुना जाता है, वही अनहद नाद है। यह हृदय के सूनेपन और शून्य के सन्नाटे में ही गूँजता है।
- १७५. अंतर्मुखी यात्रा: बाहर की सारी यात्राएँ केवल मन का विस्तार और भटकाव हैं। वास्तविक यात्रा तो भीतर के उस केंद्र की ओर है जहाँ से हम आए हैं।

- १७६. सहजता का योग: जब सब प्रयास समाप्त हो जाते हैं और केवल 'होना' शेष रह जाता है, तब सहज योग घटित होता है। यही स्थिति बुद्धत्व की है।
- १७७. शून्य का आकर्षण: जैसे नदियाँ स्वाभाविक रूप से समुद्र की ओर खिंची चली जाती हैं, वैसे ही शांत मन स्वाभाविक रूप से महाशून्य की ओर आकर्षित होता है।
- १७८. द्वंद्व से परे: जहाँ कोई 'दूसरा' नहीं है, वहाँ कोई संघर्ष भी नहीं है। अद्वैत की इस स्थिति में ही परम आनंद और शांति का स्थायी निवास है।
- १७९. आत्म-बोध की किरण: ज्ञान की एक छोटी सी किरण ही काफी है सदियों पुराने अज्ञान के घने अंधेरे को क्षण भर में दूर करने के लिए।
- १८०. पूर्णता का द्वार: जिस दिन हम अपनी अपूर्णता और सीमाओं को पूरी तरह स्वीकार कर लेते हैं, उसी क्षण से हमारे भीतर पूर्णता का द्वार खुल जाता है।
- १८१. चित्त का विश्राम: जैसे दिनभर के श्रम के बाद शरीर को नींद की आवश्यकता होती है, वैसे ही मन को परमात्मा के ध्यान में विश्राम की आवश्यकता है। यही असली ऊर्जा का स्रोत है।
- १८२. सहज स्वीकार: जीवन में जो कुछ भी घट रहा है—चाहे वह मान हो या अपमान—उसे 'प्रसाद' समझकर स्वीकार कर लेना ही दुःख से मुक्ति का एकमात्र द्वार है।
- १८३. शून्य की व्यापकता: शून्य रिक्तता नहीं, बल्कि वह आकाश है जिसमें सब कुछ समाया हुआ है। इसे जानने वाला स्वयं भी आकाश की तरह असीम हो जाता है।
- १८४. विचारहीन बोध: जब विचार रुक जाते हैं, तब जो 'जानना' शेष रह जाता है, वही शुद्ध बोध है। शब्दों के बिना ही सारा ज्ञान इस स्थिति में प्रकट होता है।

- १८५. अहंकार का सूक्ष्म खेल: अहंकार कभी-कभी ज्ञान और सेवा का चोला पहनकर आता है। साधक को अपनी 'धार्मिकता' के अभिमान से भी सदा सजग रहना चाहिए।
- १८६. अनहद का अनुभव: बिना किसी आघात के जो ध्वनि हृदय के केंद्र में गूँजती है, उसे सुनना ही मोक्ष की दिशा में सबसे बड़ा कदम है।
- १८७. समता का योग: शत्रु और मित्र, सुख और दुख में एक जैसा संतुलित रहना ही वास्तविक योग है। यही स्थिति मनुष्य को 'स्थितप्रज्ञ' बनाती है।
- १८८. आत्मा का निर्गुण स्वरूप: आत्मा का कोई रंग, रूप या गुण नहीं है, फिर भी वही सबका आधार है। इस निराकार सत्ता को जानना ही जीवन की सार्थकता है।
- १८९. द्वंद्व से मुक्ति: जहाँ 'मैं' और 'तू' का भेद मिट जाता है, वहाँ शांति का जन्म होता है। अद्वैत ही परम सत्य है और द्वैत केवल एक छाया।
- १९०. परम मौन: वाणी का मौन तो केवल तैयारी है, जब चेतना स्वयं में लीन होकर पूरी तरह मौन हो जाती है, तब परमात्मा का साक्षात्कार होता है।
- १९१. चेतना का आरोहण: जैसे नदी पहाड़ों से उतरकर मैदानों में और फिर समुद्र में मिलती है, वैसे ही हमारी चेतना निम्न विकारों से उठकर उच्च आध्यात्मिक सत्यों में लीन होती है।
- १९२. अहंकार की निरर्थकता: जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह केवल स्मृतियों और विचारों का एक पुंज है। इस भ्रम को पहचानते ही जो शेष बचता है, वही शाश्वत सत्य है।
- १९३. वर्तमान की गहराई: जो बीत गया वह अब नहीं है, जो आएगा वह अभी है नहीं। केवल 'अभी' ही वह द्वार है जिससे हम अनंत की झलक पा सकते हैं।

- १९४. मौन का अमृत: जब संसार का शोर बाहर और मन का शोर भीतर शांत होता है, तब वह दिव्य शांति उतरती है जो शब्दों के पार है।
- १९५. अंतर्यात्रा का रहस्य: परमात्मा को खोजने के लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह तो हमारे भीतर की सबसे गहरी चुप्पी में छिपा बैठा है।
- १९६. सहज समाधि का बोध: समाधि का अर्थ संसार से भागना नहीं, बल्कि संसार के बीच रहते हुए भी अपने शांत केंद्र से न डगमगाना है।
- १९७. शून्य का आकर्षण: शून्य वह बिंदु है जहाँ से सब कुछ निकलता है और सब कुछ विलीन हो जाता है। इस महाशून्य में डूबना ही परम उपलब्धि है।
- १९८. द्वंद्व से समता की ओर: जहाँ राग-द्वेष और सुख-दुख की लहरें शांत हो जाती हैं, वहीं से वास्तविक धर्म और शांति का उदय होता है।
- १९९. आत्म-बोध का प्रकाश: जैसे दीपक के जलते ही अंधेरा गायब हो जाता है, वैसे ही बोध के जागते ही अज्ञान के सारे बंधन स्वतः ही टूट जाते हैं।
- २००. पूर्णता का शिखर: आत्मा की पूर्णता का अनुभव करना ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है। यहाँ पहुँचकर साधक और साध्य एक हो जाते हैं।

२०१. अगाध शान्ति का स्रोत: जैसे गहरे समुद्र के तल में कोई लहर नहीं होती, वैसे ही आत्मा के अंतस्तल में एक शाश्वत शान्ति विराजमान है। उसे खोजना ही जीवन का सार है।

- २०२. अहंकार का दर्पण: संसार एक दर्पण है। यदि हमारे भीतर अहंकार है, तो हमें बाहर भी संघर्ष दिखेगा। यदि भीतर सरलता है, तो सारा संसार मित्रवत हो जाता है।
- २०३. विचारहीन चैतन्य: विचारों के बीच जो अन्तराल (Gap) है, वही चैतन्य का शुद्ध रूप है। उस अन्तराल को पहचानना ही ध्यान की पराकाष्ठा है।
- २०४. वर्तमान का अमृत: जो बीत गया वह अब धूल है, जो आएगा वह केवल कल्पना। सत्य तो केवल 'अभी' की इस श्वास में छिपा है।
- २०५. मौन की शक्ति: शब्द केवल संवाद का साधन हैं, परन्तु हृदय से हृदय का मिलन केवल मौन की भाषा में ही सम्भव है।
- २०६. अन्तःप्रज्ञा का उदय: जब तर्क और बुद्धि शान्त होते हैं, तभी अन्तःप्रज्ञा (Intuition) जागती है। यही वह दिव्य दृष्टि है जो सत्य को साक्षात् देख लेती है।
- २०७. सहज भक्ति और समर्पण: परमात्मा को पाने के लिए मन्दिर-मस्जिद जाने से अधिक आवश्यक है अपने 'मैं' को उसके चरणों में विसर्जित कर देना।
- २०८. शून्य की विराटता: शून्य का अर्थ अभाव नहीं, बल्कि वह असीम विस्तार है जिसमें सम्पूर्ण अस्तित्व समाया हुआ है। हम सब इसी शून्य के अंश हैं।
- २०९. द्वन्द्व से परे समभाव: सुख-दुख और लाभ-हानि को एक ही तराजू में तौलना ही वास्तविक आध्यात्मिक परिपक्वता है।
- २१०. आत्म-बोध का सवेरा: जैसे सूर्य के उदय होते ही संसार स्पष्ट दिखने लगता है, वैसे ही आत्म-बोध होते ही सारे मानसिक भ्रम और भय सदा के लिए मिट जाते हैं।

२११. सजगता का प्रकाश: जैसे एक छोटा सा दीपक घने अंधकार को मिटा देता है, वैसे ही क्षण भर की पूर्ण सजगता जन्मों के अज्ञान के जालों को काट देती है।

- २१२. अहंकार का अंत और सत्य: अहंकार वह पर्दा है जिसने सत्य को ढका हुआ है। पर्दे के गिरते ही जो शेष रहता है, वह पहले भी था और सदा रहेगा।
- २१३. विचारहीन चैतन्य की गहराई: विचारों का शोर थमते ही जो चैतन्य उभरता है, वह अगाध और अनंत है। उसी गहराई में परमात्मा का निवास है।
- २१४. वर्तमान का शाश्वत द्वार: मुक्ति का कोई भविष्य नहीं होता। वह तो इसी 'अभी' के क्षण में उपलब्ध है। जो वर्तमान में जाग गया, वह मुक्त हो गया।
- २१५. मौन का वैभव: वाणी का संयम केवल एक अनुशासन है, लेकिन मन का मौन एक बहुत बड़ा ऐश्वर्य है। इसी वैभव में ऋषि-मुनि जीते हैं।
- २१६. अंतर्मन का संगीत: बाहर का संगीत कानों को सुख देता है, पर भीतर का अनहद नाद आत्मा को तृप्त करता है। यह संगीत शून्य के सन्नाटे में ही गूँजता है।
- २१७. सहज स्वीकार की शक्ति: जब हम परिस्थितियों से लड़ना छोड़ देते हैं और उन्हें पूरी तरह स्वीकार कर लेते हैं, तभी वास्तविक शांति का जन्म होता है।
- २१८. शून्य की पूर्णता: शून्य ही वह पूर्ण तत्व है जिससे यह सारा ब्रह्मांड उपजा है और जिसमें यह अंततः विलीन हो जाएगा।
- २१९. द्वंद्वहीन अवस्था और शांति: जहाँ 'सुख' और 'दुख' की लहरें एक साथ शांत हो जाती हैं, वहीं से उस शांति की शुरुआत होती है जिसे बुद्ध ने 'निर्वाण' कहा।

- २२०. आत्म-बोध का अमृत: स्वयं को जान लेना ही अमृत को पी लेना है। फिर मृत्यु केवल एक वस्त्र बदलने जैसी घटना रह जाती है।

२२१. चेतना का अगाध विस्तार: हमारी चेतना इस छोटे से शरीर में कैद नहीं है। ध्यान के क्षणों में जब यह शरीर का मोह छोड़ती है, तो पूरे ब्रह्मांड में फैल जाती है।

- २२२. अहंकार की व्यर्थता का बोध: जिसे हम अपना 'मैं' समझकर बचाते फिरते हैं, वह रेत के महल जैसा है। इसके ढहते ही जो बचता है, वही शाश्वत सत्य है।
- २२३. विचारहीन उपस्थिति: सत्य के मार्ग पर विचार बाधा हैं। जब हम बिना किसी विचार के केवल 'होने' की स्थिति में होते हैं, तभी परमात्मा का अनुभव होता है।
- २२४. वर्तमान का अमृत कलश: भविष्य की चिंताओं और अतीत के पछतावे ने हमें इस क्षण के अमृत से वंचित रखा है। वर्तमान में जागना ही मुक्ति है।
- २२५. मौन का दिव्य संवाद: जहाँ शब्द थक जाते हैं और तर्क हार जाते हैं, वहाँ से मौन का संवाद शुरू होता है। यही वह भाषा है जिसे आत्मा समझती है।
- २२६. अंतर्यामी का संगीत: बाहर के कोलाहल को शांत करते ही भीतर का वह मधुर नाद सुनाई देता है जो अनादि काल से गूँज रहा है। यह शून्य की मधुरता है।
- २२७. सहज समर्पण का योग: समर्पण का अर्थ हार मानना नहीं, बल्कि अपनी छोटी सत्ता को उस विराट सत्ता में विलीन कर देना है। यही परम विजय है।

- २२८. शून्य की असीम गहराई: शून्य वह गर्भ है जहाँ से सारी सृष्टियाँ जन्म लेती हैं। इस गहराई में उतरने वाला स्वयं भी असीम और पूर्ण हो जाता है।
- २२९. द्वंद्व से मुक्ति की राह: जहाँ सुख और दुख की लहरें एक समान ऊँचाई की दिखती हैं, वहाँ मन का द्वंद्व समाप्त हो जाता है। यही समत्व योग है।
- २३०. आत्म-बोध का प्रकाश पुंज: आत्म-बोध कोई घटना नहीं, बल्कि एक जागरण है। जैसे सूर्य के आते ही अंधकार मिट जाता है, वैसे ही बोध से अज्ञान विदा हो जाता है।

२३१. साक्षी का मौन अवलोकन: जब हम अपने भीतर उठने वाले विचारों को बिना किसी निर्णय के देखते हैं, तब वे स्वतः ही शांत होने लगते हैं। यही साक्षी भाव की शक्ति है।

- २३२. अहंकार का विसर्जन: 'मैं' का विचार ही मुख्य बंधन है। जब यह 'मैं' समर्पण की अग्नि में जल जाता है, तब केवल शुद्ध अस्तित्व शेष रह जाता है।
- २३३. विचारहीन उपस्थिति का द्वार: विचारों की निरंतरता के बीच जो खाली स्थान है, वही द्वार है उस असीम शांति का जिसे हम बाहर खोज रहे हैं।
- २३४. वर्तमान की शाश्वत धारा: समय केवल एक भ्रम है। जो सत्य है, वह सदा 'अभी' और 'यहीं' उपलब्ध है। वर्तमान में जीना ही असली तपस्या है।
- २३५. मौन का अनहद नाद: वाणी का मौन तो केवल आरम्भ है; जब मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह दिव्य संगीत सुनाई देता है जो कभी रुकता नहीं।

- २३६. अंतर्निहित पूर्णता: हम कुछ नया प्राप्त नहीं कर रहे, हम केवल उस पूर्णता को पहचान रहे हैं जो अज्ञान की परतों के नीचे दबी हुई थी।
- २३७. सहज योग और करुणा: जब हम स्वयं के साथ गहरे जुड़े होते हैं, तब संसार के प्रति करुणा स्वाभाविक रूप से बहने लगती है। यही धर्म का व्यावहारिक रूप है।
- २३८. शून्य की अगाध शान्ति: शून्य वह विश्राम स्थल है जहाँ पहुँचकर मन की सारी दौड़ समाप्त हो जाती है। यह रिक्तता नहीं, बल्कि पूर्णता का अनुभव है।
- २३९. द्वंद्वहीन चेतना: जहाँ राग और द्वेष का संघर्ष थमता है, वहाँ एक ऐसी समरसता पैदा होती है जो किसी भी बाहरी परिस्थिति से प्रभावित नहीं होती।
- २४०. आत्म-बोध का अमृत पान: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति है। यही वह अमृत है जिसकी खोज सदियों से जारी है।

२४१. चेतना की निर्मलता: जैसे जल के शांत होने पर उसका तल दिखाई देने लगता है, वैसे ही चित्त के निर्मल होने पर आत्मा का साक्षात्कार स्वतः हो जाता है।

- २४२. अहंकार की मृगतृष्णा: 'मैं' का भाव उस रेगिस्तानी जल की तरह है जो दूर से दिखाई देता है, पर पास जाने पर लुप्त हो जाता है। सत्य के समीप अहंकार टिक नहीं सकता।
- २४३. विचारहीन उपस्थिति का द्वार: विचारों की भाग-दौड़ के थमते ही जो 'खाली स्थान' (Gap) उभरता है, वही वह द्वार है जिससे होकर हम अनंत में प्रवेश करते हैं।

- २४४. वर्तमान का शाश्वत सत्य: जीवन की सारी समस्याएँ या तो अतीत की हैं या भविष्य की। वर्तमान के इस 'अभी' वाले क्षण में कोई समस्या नहीं, केवल शांति है।
- २४५. मौन का दिव्य घोष: जब शब्द हार जाते हैं, तब मौन बोलना शुरू करता है। आत्मा की भाषा केवल मौन ही है, जो सुनने के लिए हृदय की गहराई चाहिए।
- २४६. अंतर्नाद का अनुभव: बाहर के कोलाहल को बंद करते ही भीतर का वह सूक्ष्म संगीत (अनहद नाद) सुनाई देने लगता है जो ब्रह्मांड की उत्पत्ति का आधार है।
- २४७. सहज योग और पूर्णता: योग कोई विशेष क्रिया नहीं, बल्कि अपने ही अस्तित्व के साथ लयबद्ध हो जाना है। जब प्रयास गिर जाता है, तब योग घटित होता है।
- २४८. शून्य का महासागर: शून्य वह महासागर है जिसमें यह दृश्य जगत एक लहर की तरह उठता है और उसी में समा जाता है। शून्य को जानना ही पूर्णता है।
- २४९. द्वंद्वहीन चेतना का प्रकाश: जहाँ 'अच्छा' और 'बुरा' के निर्णय समाप्त हो जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना जागती है जो पूर्णतः तटस्थ और शांत है।
- २५०. आत्म-बोध का परम शिखर: स्वयं के स्वरूप को पहचानना ही जीवन की अंतिम यात्रा है। यहाँ पहुँचकर साधक और साध्य का भेद सदा के लिए मिट जाता है।

२५१. चेतना का दिव्य दर्शन: जब मन की चंचलता समाप्त होती है, तब चेतना अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकाशित होती है। यह प्रकाश किसी बाहरी स्रोत का नहीं, बल्कि स्वयं का है।

- २५२. अहंकार का सूक्ष्म परदा: 'मैं' का विचार उस बारीक परदे की तरह है जिसने विराट सत्य को हमसे ओझल कर रखा है। इस परदे के हटते ही जो शेष रहता है, वही परमात्मा है।
- २५३. विचारहीन उपस्थिति का रहस्य: विचारों के बीच जो मौन अंतराल (Gap) है, वही सत्य का द्वार है। उस अंतराल में ठहरना ही ध्यान की सफलता है।
- २५४. वर्तमान का शाश्वत सत्य: जीवन की सारी उलझनें बीते कल या आने वाले कल की हैं। वर्तमान के इस 'अभी' क्षण में केवल शांति और आनंद का निवास है।
- २५५. मौन का अनहद संगीत: जब वाणी और विचार दोनों शांत हो जाते हैं, तब वह संगीत सुनाई देता है जो बिना किसी आघात के गूँज रहा है—वही अनहद नाद है।
- २५६. अंतर्यात्रा और पूर्णता: बाहर की खोज केवल भटकाव है। भीतर की ओर मुड़ना और अपने केंद्र को पहचानना ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।
- २५७. सहज योग और करुणा: जब हम अपने भीतर की शांति से जुड़ जाते हैं, तब समस्त जगत के प्रति करुणा

शान्ति की प्यारा



- और प्रेम स्वतः ही प्रवाहित होने लगता है।
- २५८. शून्य का अगाध सागर: शून्य वह आधार है जिसमें पूरा ब्रह्मांड समाया हुआ है। इसे जानने वाला स्वयं भी आकाश की तरह असीम और मुक्त हो जाता है।
- २५९. द्वंद्वहीन चेतना का उदय: जहाँ राग-द्वेष और सुख-दुख की लहरें शांत हो जाती हैं, वहीं से उस चेतना का उदय होता है जो निर्विकार और शांत है।
- २६०. आत्म-बोध का अमृत पथ: स्वयं को शरीर और मन से पृथक जानकर आत्मा के रूप में अनुभव करना ही अमृत पान करना है। यही शाश्वत शांति है।

२६१. चेतना का असीम आकाश: चेतना की कोई सीमा नहीं है। जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं पर आकाश को गंदा नहीं करते, वैसे ही विचार चेतना में आते-जाते हैं पर उसे छू नहीं पाते।

- २६२. अहंकार की छाया का अंत: छाया तभी तक है जब तक शरीर है। जैसे ही व्यक्ति स्वयं को शरीर से भिन्न आत्मा अनुभव करता है, अहंकार की छाया स्वतः ही विदा हो जाती है।
- २६३. विचारहीन बोध का झरना: जब मन के पत्थरों के बीच से विचारों की रुकावट हटती है, तब बोध का निर्मल झरना फूट पड़ता है। यही वास्तविक ज्ञान का उदय है।
- २६४. वर्तमान का अमृत द्वार: अतीत की राख और भविष्य के धुएं के बीच वर्तमान ही वह दहकती हुई ज्योति है जिसमें जलकर अज्ञान भस्म हो जाता है।
- २६५. मौन का दिव्य नाद: शब्दों का अंत ही सत्य का प्रारंभ है। जब वाणी पूरी तरह थककर मौन में डूबती है, तब वह दिव्य अनाहत नाद गूँज उठता है।

- २६६. अंतर्मुखी प्रज्ञा: बाहर की ओर बहती इंद्रियों को भीतर की ओर मोड़ना ही प्रज्ञा है। भीतर मुड़ते ही हम उस खजाने को पा लेते हैं जिसे हम जन्मों से बाहर खोज रहे थे।
- २६७. सहज योग और पूर्ण शांति: योग कोई कठिन आसन नहीं, बल्कि अपने ही स्वरूप में सहज होकर बैठ जाना है। जहाँ कोई 'होने' का प्रयास नहीं, वहीं पूर्ण शांति है।
- २६८. शून्य की महागाथा: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ से सब कुछ प्रारंभ होता है और अंततः वहीं विश्राम पाता है। इस शून्य को जानना ही निर्वाण है।
- २६९. द्वंद्व से समरसता की ओर: संसार विरोधों का मेल है। जो इन विरोधों के बीच अपना संतुलन नहीं खोता, वही समरसता को उपलब्ध होता है।
- २७०. आत्म-बोध का परम प्रकाश: स्वयं को जान लेना ही अंधकार से प्रकाश की ओर जाने का अंतिम सोपान है। यहाँ पहुँचकर सारा भय और संशय सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

२७१. चेतना का अगाध विस्तार: हमारी चेतना इस छोटे से शरीर में सिमटी नहीं है। ध्यान के क्षणों में जब यह सीमाओं को लांघती है, तब यह पूरे ब्रह्मांड के साथ एक हो जाती है।

- २७२. अहंकार की निरर्थकता का बोध: जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह केवल स्मृतियों और संस्कारों का एक पुलिंदा है। इस भ्रम को पहचानते ही जो शेष रहता है, वही शाश्वत सत्य है।
- २७३. विचारहीन उपस्थिति का द्वार: विचारों की भाग-दौड़ के बीच जो 'खाली स्थान' (Gap) उभरता है, वही वह द्वार है जिससे होकर हम अनंत शांति में प्रवेश करते हैं।

- २७४. वर्तमान का शाश्वत सत्य: जीवन की सारी उलझनें बीते कल या आने वाले कल की हैं। वर्तमान के इस 'अभी' क्षण में कोई समस्या नहीं, केवल चैतन्य और शांति है।
- २७५. मौन का दिव्य घोष: जब शब्द हार जाते हैं और बुद्धि थक जाती है, तब मौन बोलना शुरू करता है। आत्मा की भाषा केवल मौन ही है, जिसे केवल हृदय ही सुन सकता है।
- २७६. अंतर्यामी का मधुर संगीत: बाहर के कोलाहल को शांत करते ही भीतर का वह सूक्ष्म संगीत (अनहद नाद) सुनाई देने लगता है जो आदि काल से गूँज रहा है।
- २७७. सहज योग और पूर्णता: योग कोई विशेष क्रिया नहीं, बल्कि अपने ही अस्तित्व के साथ लयबद्ध हो जाना है। जब सारा प्रयास गिर जाता है, तब वास्तविक योग घटित होता है।
- २७८. शून्य का महासागर: शून्य वह महासागर है जिसमें यह दृश्य जगत एक लहर की तरह उठता है और उसी में समा जाता है। इस शून्य को जानना ही निर्वाण है।
- २७९. द्वंद्वहीन चेतना का प्रकाश: जहाँ 'अच्छा' और 'बुरा' के निर्णय समाप्त हो जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना जागती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और शांत है।
- २८०. आत्म-बोध का अमृत पथ: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति है। यही वह अमृत है जिसकी खोज में मनुष्य भटक रहा है।

२८१. चेतना का अगाध मौन: जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं पर आकाश को रँगते नहीं, वैसे ही विचार चेतना में आते हैं पर उसे अशुद्ध नहीं कर पाते। इस अगाध मौन को पहचानना ही बोध है।

- २८२. अहंकार की व्यर्थता: 'मैं' का विचार उस बुलबुले की तरह है जो सागर के ऊपर उठकर स्वयं को सागर से अलग समझता है। बुलबुले का फूटना ही उसका सागर हो जाना है।
- २८३. विचारहीन चैतन्य की गहराई: विचारों के विराम लेते ही जो चैतन्य शेष रहता है, वह अनंत और असीम है। उस गहराई में उतरना ही वास्तविक विश्राम है।
- २८४. वर्तमान का अमृत कलश: जीवन की सारी समस्याएँ बीते हुए कल या आने वाले कल की हैं। वर्तमान के इस 'अभी' क्षण में केवल चैतन्य और शांति का अमृत है।
- २८५. मौन का दिव्य घोष: जहाँ शब्द थक जाते हैं और तर्क हार जाते हैं, वहाँ से मौन का संवाद शुरू होता है। यही वह भाषा है जिसे आत्मा सीधे समझती है।
- २८६. अंतर्यामी का मधुर नाद: बाहर के कोलाहल को शांत करते ही भीतर का वह सूक्ष्म संगीत (अनहद नाद) सुनाई देने लगता है जो अनादि काल से निरंतर गूँज रहा है।
- २८७. सहज योग और पूर्णता: योग कोई कठिन क्रिया नहीं, बल्कि अपने ही अस्तित्व के साथ लयबद्ध हो जाना है। जब सारा प्रयास गिर जाता है, तब सहज योग घटित होता है।
- २८८. शून्य का महासागर: शून्य वह महासागर है जिसमें यह दृश्य जगत एक लहर की तरह उठता है और अंततः उसी में विलीन हो जाता है। शून्य को जानना ही पूर्णता है।
- २८९. द्वंद्वहीन चेतना का प्रकाश: जहाँ 'राग' और 'द्वेष' के निर्णय समाप्त हो जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना जागती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और शांत है।
- २९०. आत्म-बोध का परम शिखर: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति है। यही वह शिखर है जहाँ पहुँचकर खोज समाप्त हो जाती है।

२९१. चेतना का निर्मल दर्पण: जैसे दर्पण धूल हटने पर ही चेहरा साफ़ दिखाता है, वैसे ही संस्कारों की धूल हटते ही चेतना में परमात्मा का प्रतिबिंब उभरने लगता है।

- २९२. अहंकार की विदाई और बोध: जब 'मैं' का विचार विसर्जित होता है, तभी वह 'जो है' प्रकट होता है। अहंकार का मिटना ही सत्य का उदय है।
- २९३. विचारहीन उपस्थिति का अमृत: विचारों के थमते ही जो मौन अंतराल (Gap) बचता है, वही वह द्वार है जिससे होकर हम अनंत के दर्शन करते हैं।
- २९४. वर्तमान का शाश्वत सत्य: जीवन की सारी समस्याएँ बीते कल या आने वाले कल की हैं। वर्तमान के इस 'अभी' क्षण में केवल शांति और चैतन्य का साम्राज्य है।
- २९५. मौन का दिव्य घोष: जब शब्द हार जाते हैं और बुद्धि थक जाती है, तब मौन की भाषा बोलना शुरू करती है। यही आत्मा का वास्तविक संवाद है।
- २९६. अंतर्यात्रा और पूर्णता: बाहर की खोज केवल भटकाव है। भीतर की ओर मुड़ना और अपने केंद्र को पहचान लेना ही मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।
- २९७. सहज योग और करुणा: जब हम स्वयं के शांत केंद्र से जुड़ जाते हैं, तब समस्त जगत के प्रति करुणा और प्रेम का झरना स्वतः ही प्रवाहित होने लगता है।
- २९८. शून्य का महासागर: शून्य वह आधार है जिसमें पूरा ब्रह्मांड समाया हुआ है। इसे जानने वाला स्वयं भी आकाश की तरह असीम और द्वंद्वमुक्त हो जाता है।

- २९९. द्वंद्वहीन चेतना का प्रकाश: जहाँ 'अच्छा' और 'बुरा' के निर्णय शांत हो जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना जागती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और आनंदमयी है।
- ३००. आत्म-बोध का परम शिखर: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति है। यही वह परम धाम है जिसे 'शांति ही धर्म' कहा गया है।

३०१. चेतना का असीम विस्तार: हमारी चेतना इस छोटे से शरीर की सीमाओं में कैद नहीं है। ध्यान के माध्यम से जब हम इन सीमाओं को लांघते हैं, तब हम पूरे ब्रह्मांड के साथ एक हो जाते हैं।

- ३०२. अहंकार की सूक्ष्म बेड़ियाँ: कभी-कभी हम अपने त्याग और ज्ञान का भी अहंकार करने लगते हैं। यह सूक्ष्म अहंकार स्थूल अहंकार से भी अधिक खतरनाक है, इससे सजग रहना ही साधना है।
- ३०३. प्रकृति और द्रष्टा का खेल: यह सारा संसार प्रकृति के गुणों का नाच है। जो इस नाच को केवल देख रहा है, वह 'द्रष्टा' (आत्मा) सदा अछूता और शांत रहता है।
- ३०४. सहज भाव का अमृत: बनावट, दिखावे और प्रदर्शन से मुक्त होकर अपने असली सरल स्वरूप में जीना ही सबसे बड़ी साधना और सबसे बड़ा अमृत है।
- ३०५. विचारों का विसर्जन: विचार केवल मार्ग के मील के पत्थर हैं, गंतव्य नहीं। जब विचार विसर्जित होते हैं, तभी उस सत्य का साक्षात्कार होता है जो शब्दों के पार है।
- ३०६. अद्वैत की गहन अनुभूति: जहाँ 'मैं' और 'परमात्मा' के बीच का कल्पित पर्दा गिर जाता है, वहीं से वास्तविक भक्ति और अद्वैत ज्ञान की शुरुआत होती है।

- ३०७. मौन का मर्म: शब्दों से अधिक प्रभाव मौन में होता है। जो बात हजारों ग्रंथ नहीं समझा सकते, वह एक पल का गहरा मौन हृदय की गहराइयों में उतार देता है।
- ३०८. अस्तित्व का केंद्र: हम जीवन भर परिधि (बाहरी दुनिया) पर भागते रहते हैं। अब समय है अपने केंद्र (आत्मा) की ओर लौटने का, जहाँ शाश्वत और अविनाशी शांति है।
- ३०९. द्वंद्व से पूर्ण मुक्ति: सुख-दुख, लाभ-हानि और जय-पराजय को एक समान साक्षी भाव से देखना ही समस्त मानसिक गुलामी से मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।
- ३१०. शून्य की परम शांति: शून्य वह महा-विश्राम स्थल है जहाँ पहुँचकर मन की सारी थकान और जन्मों की प्यास मिट जाती है। यही मोक्ष का असली द्वार है।

३११. सजगता की परम ज्योति: जैसे सूर्य के सामने अंधकार का कोई अस्तित्व नहीं होता, वैसे ही सजगता की उपस्थिति में अज्ञान और भ्रान्तियां स्वतः ही विदा हो जाती हैं।

- ३१२. अहंकार का अंत और पूर्णता: अहंकार का गिरना ही पूर्णता का उदय है। जब 'मैं' मिटता है, तभी वह 'परमात्मा' प्रकट होता है जो सदा से भीतर ही था।
- ३१३. विचारहीन उपस्थिति का रस: विचारों के रुकते ही जो रसमयी शांति उभरती है, वह किसी सांसारिक सुख की तुलना में कहीं अधिक गहरी और शाश्वत है।
- ३१४. वर्तमान का अमृत कलश: भविष्य की चिंता और अतीत के पछतावे ने हमें इस क्षण के अमृत से वंचित रखा है। 'अभी' में जीना ही असली तपस्या है।

- ३१५. मौन का दिव्य संगीत: वाणी का मौन तो केवल तैयारी है; जब अंतर्मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह अनाहत नाद सुनाई देता है जो कभी रुकता नहीं।
- ३१६. अंतर्निहित शांति का बोध: शांति कहीं बाहर से लाने की वस्तु नहीं है, बल्कि यह हमारा मूल स्वभाव है। केवल विक्षेपों को हटाना ही साधना है।
- ३१७. सहज योग और करुणा: जब हम स्वयं के शांत केंद्र से गहरे जुड़ जाते हैं, तब समस्त जीव-जगत के प्रति करुणा और मैत्री स्वाभाविक रूप से बहने लगती है।
- ३१८. शून्य की असीम गहराई: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ पहुँचकर मन की सारी दौड़ समाप्त हो जाती है। यह रिक्तता नहीं, बल्कि अगाध पूर्णता का अनुभव है।
- ३१९. द्वंद्वहीन चेतना का सूर्य: जहाँ राग और द्वेष के बादल छँट जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना प्रकाशित होती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और शांत है।
- ३२०. आत्म-बोध का परम धाम: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जीवन की अंतिम यात्रा का पूर्ण होना है। यहाँ पहुँचकर साधक और साध्य एक हो जाते हैं।

३२१. साक्षी भाव का अमृत: जब हम स्वयं के विचारों और भावनाओं को केवल एक तटस्थ दर्शक की तरह देखते हैं, तब वे अपना प्रभाव खो देते हैं। यही मानसिक स्वतंत्रता की कुंजी है।

- ३२२. अहंकार का सूक्ष्म विसर्जन: जैसे जल में नमक घुल जाता है, वैसे ही भक्ति और ज्ञान की अग्नि में अहंकार को घुला देना ही वास्तविक साधना का फल है।

- ३२३. विचारहीन उपस्थिति का रहस्य: विचारों के बीच जो अंतराल है, वही सत्य का निवास है। उस अंतराल में ठहरना ही ध्यान की परम अवस्था है।
- ३२४. वर्तमान का शाश्वत सत्य: बीता हुआ कल केवल एक स्मृति है और आने वाला कल केवल एक कल्पना। जो 'अभी' है, वही एकमात्र जीवंत सत्य है।
- ३२५. मौन की दिव्य भाषा: जहाँ शब्द अपनी सीमा पर पहुँचकर मौन हो जाते हैं, वहीं से आत्मा का वास्तविक संवाद प्रारंभ होता है। यह मौन ही परमात्मा की भाषा है।
- ३२६. अंतर्यात्रा और पूर्णता: संसार की यात्रा केवल शरीर को थकाती है, जबकि अंतर्यात्रा आत्मा को उसकी खोई हुई शांति और पूर्णता वापस दिलाती है।
- ३२७. सहज योग और करुणा का झरना: जब हृदय अपने शांत केंद्र से जुड़ जाता है, तब समस्त प्राणी जगत के प्रति अगाध करुणा और प्रेम स्वतः ही प्रवाहित होने लगता है।
- ३२८. शून्य की असीम व्यापकता: शून्य वह गर्भ है जहाँ से सब कुछ जन्मा है। इस महाशून्य में स्वयं को विलीन कर देना ही निर्वाण और परम विश्राम है।
- ३२९. द्वंद्वहीन चेतना का प्रकाश: जहाँ 'प्रिय' और 'अप्रिय' के भेद समाप्त हो जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना जागती है जो पूर्णतः निर्विकार, अचल और शांत है।
- ३३०. आत्म-बोध का परम शिखर: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के भय से मुक्ति है। यहाँ पहुँचकर साधक स्वयं ही साध्य हो जाता है।
- ३३१. सजगता की परम ज्योति: जैसे सूर्य के सामने अंधकार का कोई अस्तित्व नहीं होता, वैसे ही सजगता की उपस्थिति में अज्ञान और भ्रान्तियां स्वतः ही विदा हो जाती हैं।

- ३३२. अहंकार का अंत और पूर्णता: अहंकार का गिरना ही पूर्णता का उदय है। जब 'मैं' मिटता है, तभी वह 'परमात्मा' प्रकट होता है जो सदा से भीतर ही था।
- ३३३. विचारहीन चैतन्य की गहराई: विचारों का शोर थमते ही जो चैतन्य उभरता है, वह अगाध और अनंत है। उसी गहराई में परमात्मा का निवास है।
- ३३४. वर्तमान का अमृत कलश: भविष्य की चिंता और अतीत के पछतावे ने हमें इस क्षण के अमृत से वंचित रखा है। 'अभी' में जीना ही असली तपस्या है।
- ३३५. मौन का दिव्य संगीत: वाणी का मौन तो केवल तैयारी है; जब अंतर्मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह अनाहत नाद सुनाई देता है जो कभी रुकता नहीं।
- ३३६. अंतर्निहित शांति का बोध: शांति कहीं बाहर से लाने की वस्तु नहीं है, बल्कि यह हमारा मूल स्वभाव है। केवल विकल्पों को हटाना ही साधना है।
- ३३७. सहज योग और करुणा: जब हम स्वयं के शांत केंद्र से गहरे जुड़ जाते हैं, तब समस्त जीव-जगत के प्रति करुणा और मैत्री स्वाभाविक रूप से बहने लगती है।
- ३३८. शून्य की असीम गहराई: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ पहुँचकर मन की सारी दौड़ समाप्त हो जाती है। यह रिक्तता नहीं, बल्कि अगाध पूर्णता का अनुभव है।
- ३३९. द्वंद्वहीन चेतना का सूर्य: जहाँ राग और द्वेष के बादल छूट जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना प्रकाशित होती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और शांत है।
- ३४०. आत्म-बोध का परम धाम: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जीवन की अंतिम यात्रा का पूर्ण होना है। यहाँ पहुँचकर साधक और साध्य एक हो जाते हैं।

३४१. साक्षी की निर्मलता: जैसे आकाश बादलों के आने-जाने से प्रभावित नहीं होता, वैसे ही साक्षी चेतना विचारों के आने-जाने से अछूती रहती है। इस अछूतेपन को जानना ही मुक्ति है।

- ३४२. अहंकार का दर्पण: संसार एक दर्पण है। यदि भीतर अहंकार है, तो बाहर संघर्ष दिखेगा। यदि भीतर सरलता है, तो सारा संसार परमात्मा का रूप नज़र आता है।
- ३४३. विचारहीन चैतन्य की सुगंध: जब विचारों का शोर थमता है, तब चैतन्य की वह सुगंध प्रकट होती है जो केवल अंतर्मन के शांत उपवन में ही अनुभव की जा सकती है।
- ३४४. वर्तमान का अमृत द्वार: मुक्ति का कोई भविष्य नहीं होता। वह तो इसी 'अभी' के क्षण में उपलब्ध है। जो वर्तमान में जाग गया, वह काल के पार निकल गया।
- ३४५. मौन का दिव्य घोष: वाणी का मौन तो केवल आरम्भ है; जब मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह दिव्य संगीत (अनहद) सुनाई देता है जो कभी रुकता नहीं।
- ३४६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: हम कुछ नया प्राप्त नहीं कर रहे, हम केवल उस पूर्णता को पहचान रहे हैं जो अज्ञान की परतों के नीचे सदा से विद्यमान थी।
- ३४७. सहज योग और मैत्री: जब हम स्वयं के साथ गहरे शांति में होते हैं, तब समस्त अस्तित्व के प्रति मैत्री और करुणा स्वाभाविक रूप से बहने लगती है।
- ३४८. शून्य की अगाध शान्ति: शून्य वह विश्राम स्थल है जहाँ पहुँचकर मन की सारी जन्मों की दौड़ समाप्त हो जाती है। यह रिक्तता नहीं, परम तृप्ति है।

- ३४९. द्वंद्व से समता की ओर: जहाँ राग और द्वेष का संघर्ष थमता है, वहाँ एक ऐसी समरसता पैदा होती है जो किसी भी बाहरी परिस्थिति से विचलित नहीं होती।
- ३५०. आत्म-बोध का परम सत्य: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जीवन का अंतिम पड़ाव है। यहाँ पहुँचकर साधक, साधना और साध्य तीनों एक हो जाते हैं।

३५१. चेतना का अजन्मा स्वरूप: शरीर जन्म लेता है और मरता है, पर चेतना न कभी पैदा हुई और न कभी मिटेगी। इस शाश्वत सत्ता को पहचानना ही निर्भयता का मार्ग है।

- ३५२. अहंकार की मृगतृष्णा: जैसे प्यासा हिरण रेगिस्तान में जल की तलाश में भटकता है, वैसे ही मनुष्य अहंकार की तुष्टि में सुख खोजता है। सत्य के पास आते ही यह प्यास और भ्रम दोनों मिट जाते हैं।
- ३५३. विचारहीन चैतन्य का अमृत: विचारों का प्रवाह जब ठहर जाता है, तब जो शुद्ध बोध बचता है, वही वह अमृत है जिसका पान करके योगी अमर हो जाते हैं।
- ३५४. वर्तमान का असीम आकाश: भविष्य की चिंताएँ और अतीत की स्मृतियाँ केवल मन के बादल हैं। वर्तमान वह असीम आकाश है जिसमें ये बादल आते-जाते हैं पर आकाश को प्रभावित नहीं करते।
- ३५५. मौन की गूँज: जब शब्द अपनी सीमा पर पहुँचकर मौन हो जाते हैं, तब परमात्मा की भाषा बोलना शुरू करती है। यह मौन ही सबसे बड़ा प्रवचन है।
- ३५६. अंतर्यामी की पुकार: संसार का शोर सुनकर हम अपने भीतर की उस धीमी पुकार को भूल गए हैं जो हमें सदा से घर लौटने का संकेत दे रही है।

- ३५७. सहज समर्पण और योग: जब 'मैं' का प्रयास गिर जाता है और हम अस्तित्व के प्रवाह के साथ बहने लगते हैं, तभी सहज योग घटित होता है। यही परम विश्राम है।
- ३५८. शून्य की विराटता का अनुभव: शून्य कोई कमी नहीं, बल्कि वह पूर्णता है जिसमें सारा ब्रह्मांड समाया हुआ है। इस महाशून्य में डूबना ही पूर्ण होना है।
- ३५९. द्वंद्वहीन शांति का प्रकाश: जहाँ 'अपना' और 'पराया' का भेद मिट जाता है, वहाँ एक ऐसी शांति जागती है जो किसी भी बाहरी परिस्थिति से खंडित नहीं होती।
- ३६०. आत्म-बोध का प्रकाश स्तंभ: जैसे समुद्र में जहाजों को प्रकाश स्तंभ दिशा दिखाता है, वैसे ही आत्म-बोध जीवन के अंधेरे में हमें सत्य का मार्ग है।
- ३६१. चेतना का निर्मल प्रवाह: जैसे बहती नदी स्वयं को स्वच्छ रखती है, वैसे ही जो चेतना विचारों को पकड़ती नहीं, वह सदा निर्मल और ताज़ी बनी रहती है।
- ३६२. अहंकार की व्यर्थता का बोध: जिसे हम अपना 'होना' कहते हैं, वह केवल स्मृतियों का संग्रह है। इस संग्रह के पीछे जो 'देखने वाला' है, वही शाश्वत सत्य है।
- ३६३. विचारहीन उपस्थिति का द्वार: विचारों की भाग-दौड़ के बीच जो 'मौन अंतराल' उभरता है, वही वह द्वार है जिससे होकर हम अनंत शांति में प्रवेश करते हैं।
- ३६४. वर्तमान का शाश्वत सत्य: जीवन की सारी उलझनें बीते कल या आने वाले कल की हैं। वर्तमान के इस 'अभी' क्षण में कोई समस्या नहीं, केवल चैतन्य है।
- ३६५. मौन का अनहद संगीत: जब वाणी थककर मौन में डूबती है, तब वह दिव्य अनाहत नाद सुनाई देता है जो बिना किसी आघात के हृदय में गूँज रहा है।

- ३६६. अंतर्निहित पूर्णता का अनुभव: हम कुछ नया प्राप्त नहीं कर रहे, हम केवल उस पूर्णता को पहचान रहे हैं जो अज्ञान की परतों के नीचे सदा से विद्यमान थी।
- ३६७. सहज योग और करुणा: जब हम स्वयं के शांत केंद्र से गहरे जुड़ जाते हैं, तब समस्त जीव-जगत के प्रति करुणा और प्रेम स्वाभाविक रूप से बहने लगता है।
- ३६८. शून्य की अगाध शान्ति: शून्य वह विश्राम स्थल है जहाँ पहुँचकर मन की सारी जन्मों की दौड़ समाप्त हो जाती है। यह रिक्तता नहीं, बल्कि अगाध पूर्णता है।
- ३६९. द्वंद्वहीन चेतना का प्रकाश: जहाँ राग और द्वेष के निर्णय शांत हो जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना जागती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और आनंदमयी है।
- ३७०. आत्म-बोध का अमृत पथ: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति है। यही वह परम धाम है जिसे 'शान्ति ही धर्म' कहा गया है।

३७१. साक्षी की गहराई: जैसे समुद्र की सतह पर लहरें होती हैं पर गहराई शांत रहती है, वैसे ही साक्षी भाव हमें संसार की हलचलों के बीच भी अगाध शांति में रखता है।

- ३७२. अहंकार का दर्पण: जब हम दूसरे में दोष देखते हैं, तो वह हमारे अपने अहंकार का ही प्रतिबिंब होता है। अहंकार के मिटते ही सारा संसार निर्दोष और पावन दिखने लगता है।
- ३७३. विचारहीन उपस्थिति का रस: विचारों के रुकते ही जो रसमयी शांति उभरती है, वह किसी भी सांसारिक सुख की तुलना में कहीं अधिक गहरी और शाश्वत है।

- ३७४. वर्तमान का अमृत द्वारः मुक्ति का कोई भविष्य नहीं होता। वह तो इसी 'अभी' के क्षण में उपलब्ध है। जो वर्तमान में जाग गया, वह काल के बंधनों से मुक्त हो गया।
- ३७५. मौन का दिव्य घोषः वाणी का मौन तो केवल आरम्भ है; जब मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह दिव्य संगीत सुनाई देता है जो बिना बजाए गूँज रहा है।
- ३७६. अंतर्निहित पूर्णता का बोधः हम कुछ नया प्राप्त नहीं कर रहे, हम केवल उस पूर्णता को पहचान रहे हैं जो अज्ञान की परतों के नीचे सदा से सुरक्षित थी।
- ३७७. सहज योग और मैत्रीः जब हम स्वयं के साथ गहरे सामंजस्य में होते हैं, तब समस्त अस्तित्व के प्रति मैत्री और करुणा का झरना स्वतः ही बहने लगता है।
- ३७८. शून्य की असीम व्यापकताः शून्य वह गर्भ है जहाँ से सब कुछ जन्मा है। इस महाशून्य में स्वयं को विलीन कर देना ही वास्तविक निर्वाण और परम विश्राम है।
- ३७९. द्वंद्वहीन चेतना का सूर्यः जहाँ 'अपना' और 'पराया' का भेद छूट जाता है, वहाँ एक ऐसी चेतना प्रकाशित होती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और शांत है।
- ३८०. आत्म-बोध का अमृत पथः स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के भय से मुक्ति है। यहाँ पहुँचकर साधक स्वयं ही साध्य में समा जाता है।

३८१. चेतना का अछूता स्वरूपः जैसे कमल का पत्ता जल में रहकर भी गीला नहीं होता, वैसे ही शुद्ध चेतना संसार के दुखों और सुखों के बीच रहकर भी उनसे अछूती रहती है।

- ३८२. अहंकार की छाया का अंत: अहंकार केवल अज्ञान की छाया है। जैसे प्रकाश आते ही छाया विदा हो जाती है, वैसे ही आत्म-ज्ञान के उदय होते ही 'मैं' का भ्रम मिट जाता है।
- ३८३. विचारहीन चैतन्य की सुगंध: जब विचारों का कोलाहल थमता है, तब चैतन्य की वह दिव्य सुगंध प्रकट होती है जो केवल अंतर्मन के शांत उपवन में ही अनुभव की जा सकती है।
- ३८४. वर्तमान का अमृत कलश: भविष्य की कल्पना और अतीत की स्मृति केवल मन के जाल हैं। वर्तमान के इस 'अभी' क्षण में ही जीवन का वास्तविक अमृत सुरक्षित है।
- ३८५. मौन का दिव्य संवाद: जहाँ शब्द अपनी सीमा पर पहुँचकर मौन हो जाते हैं, वहीं से परमात्मा का वास्तविक संदेश हृदय में उतरना शुरू होता है।
- ३८६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: हम पूर्णता को प्राप्त नहीं करते, हम केवल उस पूर्णता को पहचानते हैं जो हमारे भीतर सदा से बीज रूप में विद्यमान थी।
- ३८७. सहज योग और करुणा का प्रवाह: जब हृदय अपने शांत केंद्र से जुड़ जाता है, तब समस्त चराचर जगत के प्रति अगाध करुणा और प्रेम का झरना स्वतः ही बहने लगता है।
- ३८८. शून्य की असीम व्यापकता: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ से सब कुछ प्रारंभ होता है और अंततः वहीं विश्राम पाता है। इस शून्य को जानना ही निर्वाण है।
- ३८९. द्वंद्व से समता की ओर: संसार विरोधों का खेल है। जो इन विरोधों के बीच अपना मानसिक संतुलन नहीं खोता, वही वास्तविक समरसता को उपलब्ध होता है।
- ३९०. आत्म-बोध का परम सत्य: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जीवन का अंतिम पड़ाव है। यहाँ पहुँचकर साधक, साधना और साध्य तीनों एक हो जाते हैं।

- ३९१. चेतना का अनंत विस्तार: जैसे घड़ा फूटने पर उसके भीतर का आकाश महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही देह का मोह छूटते ही हमारी व्यक्तिगत चेतना विराट चेतना में विलीन हो जाती है।
- ३९२. अहंकार की अंतिम आहुति: साधना के मार्ग पर ज्ञान और तप का भी अहंकार आ सकता है। जब यह अंतिम 'मैं' भी समर्पण की अग्नि में स्वाहा हो जाता है, तभी पूर्ण सत्य प्रकट होता है।
- ३९३. विचारहीन उपस्थिति का आलोक: विचारों के बादलों के छूटते ही जो शुद्ध चैतन्य का सूर्य चमकता है, वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। इसमें कोई द्वंद्व नहीं, केवल प्रकाश है।
- ३९४. वर्तमान का अमृत द्वार: जिसे हम खोज रहे हैं, वह कल नहीं मिलेगा। वह तो इसी 'अभी' के क्षण में, इसी सांस में उपलब्ध है। वर्तमान ही मोक्ष का द्वार है।
- ३९५. मौन का दिव्य घोष: शब्दों का अंत ही सत्य का प्रारंभ है। जब वाणी पूरी तरह थककर मौन में डूबती है, तब वह दिव्य अनाहत नाद गूँज उठता है जो आदि-अनादि है।
- ३९६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: संसार की कोई भी वस्तु हमें पूर्ण नहीं कर सकती, क्योंकि हम पहले से ही पूर्ण हैं। केवल इस अज्ञान को हटाना है कि हम अपूर्ण हैं।
- ३९७. सहज योग और करुणा का स्रोत: जब हम अपने भीतर की शांति से गहरे जुड़ जाते हैं, तब समस्त प्राणी मात्र के प्रति करुणा और प्रेम स्वतः ही प्रवाहित होने लगता है।
- **३९८. शून्य की महागाथा: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ से सब कुछ प्रारंभ होता है और अंततः वहीं विश्राम पाता है। इस शून्य को जानना ही परम निर्वाण है।
- ३९९. द्वंद्व से समरसता की ओर: संसार विरोधों का मेल है। जो इन विरोधों (सुख-दुख, लाभ-हानि) के बीच अपना संतुलन नहीं खोता, वही समरसता को उपलब्ध होता है।

- ४००. आत्म-बोध का परम शिखर: स्वयं को जान लेना ही अंधकार से प्रकाश की ओर जाने का अंतिम सोपान है। यहाँ पहुँचकर सारा भय और संशय सदा के लिए समाप्त हो जाता है।
- ४०१. चेतना का अछूता आकाश: जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं पर आकाश को गंदा नहीं करते, वैसे ही विचार चेतना में आते-जाते हैं पर उसे अशुद्ध नहीं कर पाते। इस अछूतेपन को जानना ही मुक्ति है।
- ४०२. अहंकार की मृगतृष्णा का अंत: जैसे प्यासा हिरण रेगिस्तान में जल की तलाश में भटकता है, वैसे ही मनुष्य अहंकार की तुष्टि में सुख खोजता है। सत्य के समीप आते ही यह भ्रम मिट जाता है।
- ४०३. विचारहीन उपस्थिति का द्वार: विचारों की भाग-दौड़ के बीच जो 'मौन अंतराल' उभरता है, वही वह द्वार है जिससे होकर हम अनंत शांति में प्रवेश करते हैं।
- ४०४. वर्तमान का अमृत कलश: भविष्य की चिंता और अतीत के पछतावे ने हमें इस क्षण के अमृत से वंचित रखा है। 'अभी' के इस पल में जागना ही असली तपस्या है।
- ४०५. मौन का दिव्य संगीत: वाणी का मौन तो केवल आरम्भ है; जब मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह दिव्य संगीत (अनहद) सुनाई देता है जो बिना बजाए गूँज रहा है।
- ४०६. अंतर्निहित पूर्णता का अनुभव: हम कुछ नया प्राप्त नहीं कर रहे, हम केवल उस पूर्णता को पहचान रहे हैं जो अज्ञान की परतों के नीचे सदा से सुरक्षित थी।
- ४०७. सहज योग और करुणा का झरना: जब हृदय अपने शांत केंद्र से जुड़ जाता है, तब समस्त चराचर जगत के प्रति अगाध करुणा और प्रेम स्वतः ही प्रवाहित होने लगता है।

- ४०८. शून्य की असीम व्यापकता: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ से सब कुछ प्रारंभ होता है और अंततः वहीं विश्राम पाता है। इस शून्य को जानना ही निर्वाण है।
- ४०९. द्वंद्वहीन चेतना का प्रकाश: जहाँ 'अपना' और 'पराया' का भेद समाप्त हो जाता है, वहाँ एक ऐसी चेतना जागती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और आनंदमयी है।
- ४१०. आत्म-बोध का परम सत्य: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के भय से मुक्ति है। यहाँ पहुँचकर साधक, साधना और साध्य तीनों एक हो जाते हैं।
- ४११. चेतना का अजन्मा स्वरूप: शरीर की सीमाएँ हैं, पर चेतना की कोई सीमा नहीं। जैसे घड़े के फूटने से उसके भीतर का आकाश नहीं मरता, वैसे ही शरीर के अंत से आत्मा का अंत नहीं होता।
- ४१२. अहंकार की छाया का अंत: छाया तभी तक है जब तक हम प्रकाश की ओर पीठ किए खड़े हैं। जैसे ही हम सत्य के प्रकाश की ओर मुड़ते हैं, 'मैं' की छाया विलीन हो जाती है।
- ४१३. विचारहीन चैतन्य की सुगंध: जब विचारों का कोलाहल थमता है, तब चैतन्य की वह दिव्य सुगंध प्रकट होती है जो केवल अंतर्मन के शांत उपवन में ही अनुभव की जा सकती है।
- ४१४. वर्तमान का अमृत कलश: भविष्य की चिंता और अतीत की स्मृतियाँ केवल मन के जाल हैं। वर्तमान के इस 'अभी' क्षण में ही जीवन का वास्तविक सत्य और आनंद सुरक्षित है।
- ४१५. मौन का दिव्य संवाद: जहाँ शब्द अपनी सीमा पर पहुँचकर मौन हो जाते हैं, वहीं से परमात्मा का वास्तविक संदेश हृदय में उतरना शुरू होता है। यह मौन ही सबसे बड़ा उपदेश है।
- ४१६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: हम पूर्णता को प्राप्त नहीं करते, हम केवल उस पूर्णता को पहचानते हैं जो हमारे भीतर

सदा से बीज रूप में विद्यमान थी, पर अज्ञान के कारण ढकी हुई थी।

- ४१७. सहज योग और करुणा का प्रवाह: जब हृदय अपने शांत केंद्र से जुड़ जाता है, तब समस्त चराचर जगत के प्रति अगाध करुणा और प्रेम का झरना स्वतः ही बहने लगता है।
- ४१८. शून्य की असीम व्यापकता: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ से सब कुछ प्रारंभ होता है और अंततः वहीं विश्राम पाता है। इस शून्य को जानना ही निर्वाण और परम शांति है।
- ४१९. द्वंद्व से समता की ओर: संसार विरोधों का खेल है—सुख-दुख, लाभ-हानि। जो इन विरोधों के बीच अपना मानसिक संतुलन नहीं खोता, वही वास्तविक समरसता को उपलब्ध होता है।
- ४२०. आत्म-बोध का परम सत्य: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जीवन की अंतिम यात्रा का पूर्ण होना है। यहाँ पहुँचकर साधक और साध्य का भेद सदा के लिए मिट जाता है।

४२१. चेतना का निर्मल स्रोत: जैसे पहाड़ से निकलती नदी स्वभाव से ही शुद्ध होती है, वैसे ही संस्कारों के मैल से मुक्त होते ही हमारी चेतना अपने शुद्ध और आनंदमयी स्वरूप में प्रवाहित होने लगती है।

- ४२२. अहंकार का सूक्ष्म खेल: अहंकार केवल 'बड़ा होने' में ही नहीं, 'छोटा' या 'अक्षम' होने के विचार में भी जीवित रहता है। इन दोनों धारणाओं को छोड़ देना ही वास्तविक सरलता है।
- ४२३. विचारहीन चैतन्य की गहराई: विचारों के विराम लेते ही जो अगाध शांति बचती है, वह कोई शून्यता नहीं, बल्कि चैतन्य की परम सघनता है। यही वह स्थान है जहाँ परमात्मा से मिलन होता है।

- ४२४. वर्तमान का अमृत द्वार: जिसे हम भविष्य में खोज रहे हैं, वह अभी इसी क्षण हमारे भीतर मौजूद है। वर्तमान के द्वार पर जागना ही संसार के स्वप्न से बाहर आना है।
- ४२५. मौन का अनहद संगीत: बाहरी शोर को शांत करते ही भीतर का वह सूक्ष्म संगीत (अनहद नाद) सुनाई देने लगता है जो बिना किसी आघात के शाश्वत काल से गूँज रहा है।
- ४२६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: पूर्णता कोई लक्ष्य नहीं है जिसे भविष्य में प्राप्त करना है। हम वर्तमान में ही पूर्ण हैं, केवल इस सत्य को पहचानना और स्वीकार करना शेष है।
- ४२७. सहज योग और करुणा: जब हम स्वयं के शांत केंद्र से गहरे जुड़ जाते हैं, तब समस्त जीव-जगत के प्रति करुणा और मैत्री स्वाभाविक रूप से हमारे व्यवहार में ढलने लगती है।
- ४२८. शून्य की अगाध शान्ति: शून्य वह महासागर है जिसमें यह दृश्य जगत एक लहर की तरह उठता है और अंततः उसी में शांत हो जाता है। इस शून्य को जानना ही मोक्ष है।
- ४२९. द्वंद्वहीन चेतना का सूर्य: जहाँ राग और द्वेष के बादल छँट जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना प्रकाशित होती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और शांत है।
- ४३०. आत्म-बोध का परम सत्य: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण की भटकन का अंत है। यहाँ पहुँचकर साधक और साध्य का भेद सदा के लिए विसर्जित हो जाता है।
- ४३१. साक्षी भाव की निर्मलता: जैसे दर्पण के सामने से जो भी गुजरता है, दर्पण उसे पकड़ता नहीं, वैसे ही साक्षी चेतना विचारों को आने-जाने देती है पर स्वयं अछूती रहती है।

- ४३२. अहंकार की सूक्ष्म ग्रंथियाँ: कभी-कभी 'मैं कुछ नहीं हूँ' कहना भी अहंकार का एक सूक्ष्म रूप होता है। वास्तविक निरहंकारिता वह है जहाँ 'मैं' का विचार ही विसर्जित हो जाए।
- ४३३. विचारहीन चैतन्य का प्रकाश: विचारों के कोलाहल के नीचे एक अखंड प्रकाश सदा विद्यमान रहता है। ध्यान उस शोर को हटाकर उस प्रकाश को अनुभव करने की विधि है।
- ४३४. वर्तमान का अमृत क्षण: कल की योजना और बीते कल की यादें केवल मन के जाल हैं। इस क्षण की सांस में जो जीवन है, वही एकमात्र सत्य और अमृत है।
- ४३५. मौन की गूँज: जब शब्द अपनी सीमा समाप्त कर देते हैं, तब हृदय की गहराई से एक मौन संवाद शुरू होता है। यही वह भाषा है जिसमें परमात्मा बात करता है।
- ३३६. अंतर्निहित पूर्णता का साक्षात्कार: पूर्णता कहीं बाहर से अर्जित नहीं की जाती। जैसे बीज के भीतर वृक्ष छिपा है, वैसे ही हमारे भीतर वह पूर्णता सदा से मौजूद है।
- ४३७. सहज योग और मैत्री का भाव: जब हम स्वयं के साथ शांति में होते हैं, तब संसार के प्रति हमारा दृष्टिकोण स्वतः ही मैत्रीपूर्ण और करुणामयी हो जाता है।
- ४३८. शून्य की विराटता: शून्य वह आधार है जिस पर अस्तित्व का पूरा नृत्य टिका है। शून्य को जानना ही उस नृत्य के केंद्र को पहचान लेना है।
- ४३९. द्वंद्वहीन चेतना का उदय: जहाँ 'सुख' और 'दुख' के बीच की खिंचातान समाप्त हो जाती है, वहाँ एक ऐसी समरसता जन्म लेती है जो अचल और अडिग है।
- ४४०. आत्म-बोध का परम धाम: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को जान लेना ही सभी दुखों का अंत है। यहाँ पहुँचकर खोज समाप्त होती है और वास्तविक विश्राम शुरू होता है।

- ४४१. चेतना का अनंत आकाश: जैसे बादलों के आने-जाने से आकाश मैला नहीं होता, वैसे ही विचारों के आने-जाने से हमारी मूल चेतना कभी अशुद्ध नहीं होती। इस निर्लिप्तता को पहचानना ही बोध है।
- ४४२. अहंकार की अंतिम विदाई: जब 'मैं' का विचार पूरी तरह विसर्जित हो जाता है, तभी वह 'परम तत्व' प्रकट होता है। अहंकार का मिटना ही परमात्मा का होना है।
- ४४३. विचारहीन उपस्थिति का रस: विचारों के रुकते ही जो रसमयी शांति उभरती है, वह किसी भी सांसारिक सुख की तुलना में कहीं अधिक गहरी और शाश्वत है।
- ४४४. वर्तमान का अमृत द्वार: मुक्ति का कोई भविष्य नहीं होता। वह तो इसी 'अभी' के क्षण में उपलब्ध है। जो वर्तमान में जाग गया, वह काल के बंधनों से मुक्त हो गया।
- ४४५. मौन का दिव्य घोष: वाणी का मौन तो केवल आरम्भ है; जब मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह दिव्य संगीत सुनाई देता है जो बिना बजाए गूँज रहा है।
- ४४६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: हम पूर्णता को प्राप्त नहीं करते, हम केवल उस पूर्णता को पहचानते हैं जो हमारे भीतर सदा से सुरक्षित थी, पर अज्ञान के पर्दे से ढकी थी।
- ४४७. सहज योग और मैत्री का स्रोत: जब हृदय अपने शांत केंद्र से जुड़ जाता है, तब समस्त चराचर जगत के प्रति अगाध करुणा और प्रेम का झरना स्वतः ही बहने लगता है।
- ४४८. शून्य की असीम व्यापकता: शून्य वह गर्भ है जहाँ से सब कुछ जन्मा है। इस महाशून्य में स्वयं को विलीन कर देना ही वास्तविक निर्वाण और परम विश्राम है।

- ४४९. द्वंद्वहीन चेतना का सूर्य: जहाँ 'अपना' और 'पराया' का भेद छूट जाता है, वहाँ एक ऐसी चेतना प्रकाशित होती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और शांत है।
- ४५०. आत्म-बोध का अमृत पथ: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के भय से मुक्ति है। यहाँ पहुँचकर साधक स्वयं ही साध्य में समा जाता है।

४५१. साक्षी की अखंड ज्योति: जैसे दीये की लौ हवा न होने पर स्थिर रहती है, वैसे ही साक्षी भाव में स्थित चेतना संसार की हलचलों के बीच भी अडिग और शांत रहती है।

- ४५२. अहंकार की व्यर्थता का बोध: जिसे हम 'मैं' कहकर पकड़े हुए हैं, वह केवल स्मृतियों का एक संग्रह है। इस संग्रह के विसर्जित होते ही जो बचता है, वही शाश्वत सत्य है।
- ४५३. विचारहीन चैतन्य की सुगंध: जब विचारों का कोलाहल थमता है, तब चैतन्य की वह दिव्य सुगंध प्रकट होती है जो केवल अंतर्मन के शांत उपवन में ही अनुभव की जा सकती है।
- ४५४. वर्तमान का अमृत द्वार: मुक्ति का कोई भविष्य नहीं होता। वह तो इसी 'अभी' के क्षण में उपलब्ध है। जो वर्तमान में जाग गया, वह काल के बंधनों से मुक्त हो गया।
- ४५५. मौन का दिव्य घोष: वाणी का मौन तो केवल आरम्भ है; जब मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह दिव्य संगीत सुनाई देता है जो बिना बजाए हृदय में गूँज रहा है।
- ४५६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: हम पूर्णता को प्राप्त नहीं करते, हम केवल उस पूर्णता को पहचानते हैं जो हमारे भीतर सदा से सुरक्षित थी, पर अज्ञान के पर्दे से ढकी थी।

- ४५७. सहज योग और मैत्री का स्रोत: जब हृदय अपने शांत केंद्र से जुड़ जाता है, तब समस्त चराचर जगत के प्रति अगाध करुणा और प्रेम का झरना स्वतः ही बहने लगता है।
- ४५८. शून्य की असीम व्यापकता: शून्य वह गर्भ है जहाँ से सब कुछ जन्मा है। इस महाशून्य में स्वयं को विलीन कर देना ही वास्तविक निर्वाण और परम विश्राम है।
- ४५९. द्वंद्वहीन चेतना का सूर्य: जहाँ 'अपना' और 'पराया' का भेद छूट जाता है, वहाँ एक ऐसी चेतना प्रकाशित होती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और शांत है।
- ४६०. आत्म-बोध का अमृत पथ: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के भय से मुक्ति है। यहाँ पहुँचकर साधक स्वयं ही साध्य में समा जाता है।

४६१. चेतना का अजन्मा प्रकाश: जैसे सूर्य के होने से ही दिन का अस्तित्व है, वैसे ही हमारी शुद्ध चेतना के होने से ही इस संसार का अनुभव संभव है। इस आधारभूत प्रकाश को जानना ही बोध है।

- ४६२. अहंकार की विदाई और सत्य का उदय: जब 'मैं' का आग्रह विदा होता है, तभी वह 'परमात्मा' प्रकट होता है जो सदा से भीतर ही था। अहंकार का अंत ही सत्य का प्रारंभ है।
- ४६३. विचारहीन उपस्थिति का मौन: विचारों के शोर के नीचे एक अखंड मौन सदा विद्यमान रहता है। उस मौन में ठहरना ही ध्यान की पराकाष्ठा है।
- ४६४. वर्तमान का शाश्वत सत्य: भविष्य केवल एक कल्पना है और अतीत केवल एक स्मृति। जो 'अभी' है, वही एकमात्र जीवंत सत्य है जिसमें जीवन का सारा रस समाया है।

- ४६५. मौन की दिव्य भाषा: शब्दों की अपनी सीमा है, पर मौन असीम है। जब अंतर्मन शांत होता है, तब वह भाषा सुनाई देती है जो सीधे हृदय से हृदय तक पहुँचती है।
- ४६६. अंतर्निहित पूर्णता का साक्षात्कार: हम अपूर्ण नहीं हैं, हम केवल अपनी पूर्णता को भूल गए हैं। साधना का अर्थ कुछ नया पाना नहीं, बल्कि अपनी भूली हुई निधि को पुनः प्राप्त करना है।
- ४६७. सहज योग और करुणा का झरना: जब हम स्वयं के शांत केंद्र से गहरे जुड़ जाते हैं, तब समस्त जीव-जगत के प्रति अगाध करुणा और मैत्री स्वाभाविक रूप से बहने लगती है।
- ४६८. शून्य की विराटता: शून्य वह गर्भ है जहाँ से पूरा ब्रह्मांड प्रकट होता है और अंततः वहीं विलीन हो जाता है। इस महाशून्य को जानना ही परम विश्राम है।
- ४६९. द्वंद्वहीन चेतना का सूर्य: जहाँ राग और द्वेष के बादल छँट जाते हैं, वहाँ एक ऐसी चेतना प्रकाशित होती है जो पूर्णतः तटस्थ, साक्षी और आनंदमयी है।
- ४७०. आत्म-बोध का परम शिखर: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जीवन की अंतिम यात्रा का पूर्ण होना है। यहाँ पहुँचकर साधक स्वयं ही साध्य है।

४७१. साक्षी का निर्लिप्त भाव: जैसे जल में प्रतिबिंब दिखता है पर जल उससे गीला नहीं होता, वैसे ही साक्षी चेतना संसार के दृश्यों को देखती है पर उनसे प्रभावित नहीं होती।

- ४७२. अहंकार की सूक्ष्म ग्रंथि का विच्छेद: ज्ञान का अहंकार सबसे घातक है। जब 'मैं ज्ञानी हूँ' का यह अंतिम विचार भी विसर्जित हो जाता है, तभी वास्तविक बोध का उदय होता है।

- ४७३. विचारहीन चैतन्य की गहराई: विचारों के शांत होते ही जो चैतन्य उभरता है, वह अगाध और अनंत है। उसी गहराई में परमात्मा का साक्षात् निवास है।
- ४७४. वर्तमान का अमृत द्वार: जिसे हम भविष्य में खोज रहे हैं, वह इसी 'अभी' के क्षण में उपलब्ध है। वर्तमान ही वह द्वार है जिससे होकर हम शाश्वत में प्रवेश करते हैं।
- ४७५. मौन का दिव्य संगीत: जब वाणी मौन होती है और मन निशब्द होता है, तब वह अनाहत नाद सुनाई देता है जो सृष्टि के कण-कण में गूँज रहा है।
- ४७६. अंतर्निहित पूर्णता का अनुभव: हम कुछ नया प्राप्त नहीं कर रहे, हम केवल उस पूर्णता को पहचान रहे हैं जो अज्ञान की परतों के नीचे सदा से सुरक्षित थी।
- ४७७. सहज योग और करुणा का स्रोत: जब हृदय अपने शांत केंद्र से जुड़ जाता है, तब समस्त चराचर जगत के प्रति अगाध करुणा और प्रेम का झरना स्वतः ही बहने लगता है।
- ४७८. शून्य की असीम व्यापकता: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ से सब कुछ प्रारंभ होता है और अंततः वहीं विश्राम पाता है। इस शून्य को जानना ही परम निर्वाण है।
- ४७९. द्वंद्व से समता की ओर: जहाँ राग और द्वेष का संघर्ष थमता है, वहाँ एक ऐसी समरसता पैदा होती है जो किसी भी बाहरी परिस्थिति से विचलित नहीं होती।
- ४८०. आत्म-बोध का अमृत पथ: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही जन्म-मरण के भय से मुक्ति है। यहाँ पहुँचकर साधक, साधना और साध्य तीनों एक हो जाते हैं।

४८१. चेतना का अगाध महासागर: जैसे लहरें समुद्र की सतह पर होती हैं पर गहराई सदा शांत रहती है, वैसे ही बाहरी परिस्थितियों के कोलाहल के नीचे हमारी चेतना सदा प्रशांत और स्थिर है।

- ४८२. अहंकार की अंतिम बाधा: साधना में 'मैं साधक हूँ' का भाव भी एक सूक्ष्म बंधन है। जब यह अंतिम आधार भी गिर जाता है, तब जो शेष बचता है वही परमात्मा है।
- ४८३. विचारहीन उपस्थिति की ज्योति: विचारों के शांत होते ही जो शुद्ध बोध प्रकाशित होता है, वही हमारा असली स्वरूप है। इसमें न कोई प्रश्न है, न कोई उत्तर, केवल होना है।
- ४८४. वर्तमान का अमृत कलश: मुक्ति कल के लिए टालने वाली वस्तु नहीं है। यह तो इसी 'अभी' की सांस में छिपी है। जो वर्तमान में ठहर गया, वह संसार के पार हो गया।
- ४८५. मौन का दिव्य घोष: वाणी का मौन तो केवल तैयारी है; जब अंतर्मन भी निशब्द हो जाता है, तब वह अनाहत नाद सुनाई देता है जो सृष्टि के आदि से गूँज रहा है।
- ४८६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: हम पूर्ण होने की चेष्टा नहीं कर रहे, हम केवल उस पूर्णता को पहचान रहे हैं जिसे हमने अज्ञानवश भुला दिया था।
- ४८७. सहज योग और करुणा का प्रवाह: जब हम अपने भीतर की शांति से गहरे जुड़ जाते हैं, तब समस्त अस्तित्व के प्रति एक अगाध करुणा और प्रेम स्वतः ही फूट पड़ता है।
- ४८८. शून्य की विराटता: शून्य वह परम विश्राम स्थल है जहाँ पहुँचकर मन की सारी खोज और दौड़ समाप्त हो जाती है। यह रिक्तता नहीं, बल्कि अगाध तृप्ति है।

- ४८९. द्वंद्व से समता की ओर: जहाँ 'सुख' और 'दुख' के प्रति समान भाव जाग जाता है, वहाँ एक ऐसी समरसता पैदा होती है जो जीवन के तूफानों में भी अडिग रहती है।
- ४९०. आत्म-बोध का परम धाम: स्वयं के वास्तविक स्वरूप को जान लेना ही सभी दुखों का अंत है। यहाँ पहुँचकर साधक और साध्य का भेद सदा के लिए विलीन हो जाता है।

४९१. चेतना का अक्षय कोष: जैसे दीपक से दीपक जलाने पर प्रकाश कम नहीं होता, वैसे ही बांटने से ज्ञान और शांति की चेतना और अधिक प्रखर होती है। यह अक्षय भंडार हमारे भीतर ही है।

- ४९२. अहंकार की अंतिम आहुति: जब 'मैं' का विचार पूरी तरह समर्पित हो जाता है, तभी वह 'परम तत्व' प्रकट होता है। अहंकार का विसर्जन ही वास्तविक परमात्मा का साक्षात्कार है।
- ४९३. विचारहीन चैतन्य का आलोक: विचारों के बादलों के छँटते ही जो शुद्ध चैतन्य का सूर्य चमकता है, वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। इसमें कोई द्वंद्व नहीं, केवल प्रकाश है।
- ४९४. वर्तमान का अमृत द्वार: जिसे हम खोज रहे हैं, वह कल नहीं मिलेगा। वह तो इसी 'अभी' के क्षण में, इसी सांस में उपलब्ध है। वर्तमान ही मोक्ष का एकमात्र द्वार है।
- ४९५. मौन की गूँज: जब शब्द अपनी सीमा समाप्त कर देते हैं, तब हृदय की गहराई से एक मौन संवाद शुरू होता है। यही वह भाषा है जिसमें परमात्मा भक्त से संवाद करता है।
- ४९६. अंतर्निहित पूर्णता का बोध: संसार की कोई भी वस्तु हमें पूर्ण नहीं कर सकती, क्योंकि हम पहले से ही पूर्ण हैं। केवल इस अज्ञान को हटाना है कि हम अपूर्ण हैं।

- ४९७. सहज योग और करुणा का स्रोत: जब हम अपने भीतर की शांति से गहरे जुड़ जाते हैं, तब समस्त प्राणी मात्र के प्रति करुणा और प्रेम स्वतः ही प्रवाहित होने लगता है।
- ४९८. शून्य की महागाथा: शून्य वह आदि और अंत है जहाँ से सब कुछ प्रारंभ होता है और अंततः वहीं विश्राम पाता है। इस शून्य को जानना ही परम निर्वाण है।
- ४९९. द्वंद्व से समरसता की ओर: संसार विरोधों का मेल है। जो इन विरोधों (सुख-दुख, लाभ-हानि) के बीच अपना संतुलन नहीं खोता, वही समरसता को उपलब्ध होता है।
- ५००. आत्म-बोध का परम शिखर: स्वयं को जान लेना ही अंधकार से प्रकाश की ओर जाने का अंतिम सोपान है। यहाँ पहुँचकर सारा भय और संशय सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

५०१. नियति का रंगमंच: यह संसार एक विशाल रंगमंच है और नियति इसकी सूत्रधार। हम केवल पात्र हैं; कुशलता इसमें नहीं कि हम खेल बदल दें, बल्कि इसमें है कि हम अपना अभिनय पूरी तन्मयता और तटस्थता से करें।

- ५०२. खेल और खिलाड़ी का बोध: जब तक हम स्वयं को कर्ता मानते हैं, तब तक तनाव रहता है। जैसे ही यह बोध होता है कि "नियति खिला रही है और मैं खेल रहा हूँ", वैसे ही जीवन एक उत्सव बन जाता है।
- ५०३. सुख-दुख के दो किनारे: नियति के खेल में सुख और दुख नदी के दो किनारों की तरह हैं। जो खिलाड़ी इन दोनों के बीच बहती चैतन्य की धारा को पहचान लेता है, वही वास्तविक ब्रह्मज्ञानी है।
- ४०४. द्वंद्व में समता का योग: खेल में हार भी होगी और जीत भी। सुख भी आएगा और दुख भी। इन दोनों को नियति का

प्रसाद मानकर स्वीकार कर लेना ही मन की शांति का मूल मंत्र है।

- ५०५. समर्पण ही परम ज्ञान: "मैं खेल रहा हूँ" में अहंकार हो सकता है, लेकिन "नियति खिला रही है" में पूर्ण समर्पण है। यह समर्पण ही अज्ञान के अंधकार को मिटाकर आत्म-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करता है।
- ५०६. नियति की चाल और मौन स्वीकार: जीवन की हर परिस्थिति नियति की एक चाल है। जब हम उसके प्रति विरोध छोड़ देते हैं और 'मौन स्वीकार' में उतरते हैं, तब संघर्ष समाप्त हो जाता है और शांति का उदय होता है।
- ५०७. साक्षी की मुस्कान: खिलाड़ी वही श्रेष्ठ है जो खेल के उतार-चढ़ाव में अपनी मुस्कान न खोए। यह मुस्कान तभी संभव है जब हम जानते हों कि खेल का परिणाम हमारे हाथ में नहीं, केवल खेलना हमारे वश में है।
- ५०८. ब्रह्मज्ञान का सरल सूत्र: बहुत शास्त्रों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं। बस यह जान लेना कि "प्रकृति की योजना सर्वोपरि है", मनुष्य को समस्त मानसिक क्लेशों से मुक्त कर देता है।
- ५०९. नियति का अदृश्य हाथ: जिसे हम संयोग कहते हैं, वह नियति का अदृश्य हस्ताक्षर है। इस सत्य को स्वीकार करते ही जीवन के प्रति हमारी शिकायतें खत्म हो जाती हैं और कृतज्ञता जागती है।
- ५१०. खेल का पूर्ण विराम: जब खिलाड़ी खेलते-खेलते खेल का हिस्सा बन जाता है और 'मैं' का भाव मिट जाता है, तब नियति और खिलाड़ी एक हो जाते हैं। यही वह परम विश्राम है जहाँ पहुँचकर सब कुछ शांत हो जाता है।

५११. नियति की बिसात: जीवन एक बिसात है जहाँ नियति की चालें अनूठी होती हैं। बुद्धिमान वह है जो चालों को बदलने की चेष्टा नहीं करता, बल्कि हर चाल में अपनी शांति बनाए रखता है।

- ५१२. सुख-दुःख का द्वंद्व: नियति के खेल में सुख और दुःख केवल अनुभव के दो रंग हैं। जैसे चित्र में अँधेरा और प्रकाश दोनों आवश्यक हैं, वैसे ही जीवन की पूर्णता के लिए दोनों का स्वागत करना ही ज्ञान है।
- ५१३. कर्ता भाव का विसर्जन: जब तक हम सोचते हैं कि 'मैं खेल रहा हूँ', भार बना रहता है। जैसे ही यह बोध होता है कि 'मुझसे खिलाया जा रहा है', सारा भार नियति के चरणों में समर्पित हो जाता है।
- ५१४. प्रारब्ध और पुरुषार्थ का मेल: नियति ने जो खेल सामने रखा है, उसे पूरी कुशलता से खेलना ही हमारा धर्म है। परिणाम की चिंता को नियति पर छोड़ देना ही निष्काम कर्म है।
- ५१५. समता का अमृत: जो खिलाड़ी हार में टूटता नहीं और जीत में फूलता नहीं, उसने नियति के रहस्य को पा लिया है। यही समता का भाव अमृत के समान है।
- ५१६. नियति का अदृश्य संगीत: जीवन की हर घटना एक लय में है। कभी वह सुर सुख का होता है, कभी दुःख का। इस पूरे संगीत को समग्रता में सुनना ही ध्यान है।
- ५१७. साक्षी की मुस्कुहाट: खेल के बीच में भी जो अपने केंद्र पर अचल है, उसकी मुस्कुहाट कभी फीकी नहीं पड़ती। वह जानता है कि यह सब एक क्षणभंगुर लीला मात्र है।
- ५१८. नियति और नियंता: खेल खिलाने वाला (नियंता) और खेल (नियति) अलग नहीं हैं। इस एकता को जान लेना ही अद्वैत का अनुभव करना है।

- ५१९. द्वंद्व के पार की शांति: सुख और दुःख की लहरें आती-जाती रहती हैं, पर जो अपनी आत्मा के गहरे समुद्र में स्थित है, उसके लिए सब कुछ शांत और स्थिर है।
- ५२०. खेल की पूर्णता का बोध: जब खिलाड़ी को यह बोध हो जाता है कि खेल ही सत्य है और मैं केवल एक माध्यम, तब जीवन का हर क्षण 'प्रसाद' बन जाता है।

५२१. नियति की अगाध योजना: हमारे छोटे से मन को जो 'अनहोनी' लगता है, वह नियति की एक विशाल योजना का हिस्सा होता है। इस योजना पर विश्वास करना ही परम शांति का मार्ग है।

- ५२२. सुख-दुःख की लहरों का नृत्य: जैसे समुद्र अपनी लहरों को नहीं चुनता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष आने वाले अनुभवों को नहीं चुनता। वह हर लहर पर सवार होकर जीवन का आनंद लेता है।
- ५२३. साक्षी की तटस्थता: खिलाड़ी खेल के भीतर होता है, पर साक्षी खेल को देखते हुए भी उससे ऊपर होता है। जब हम स्वयं को 'नियति का यंत्र' मान लेते हैं, तब तटस्थता स्वतः आ जाती है।
- ५२४. अहंकार की अंतिम बाधा: "मैंने बहुत सहा" या "मैंने बहुत पाया"—यह दोनों ही विचार अहंकार के सूक्ष्म रूप हैं। "नियति ने दिया और नियति ने लिया" कहना ही वास्तविक त्याग है।
- ५२५. वर्तमान का रणक्षेत्र: नियति हमें कल या परसों नहीं खिलाती, वह इसी क्षण में खिलाती है। इस क्षण के खेल में पूरी तरह डूब जाना ही जीवन की सार्थकता है।
- ५२६. प्रारब्ध का मधुर स्वीकार: जो घट रहा है, उसे 'प्रसाद' मानकर ग्रहण करना ही प्रारब्ध का मधुर स्वीकार है। इसमें न कोई शिकायत है, न कोई सुधार की चेष्टा।

- ५२७. नियति का अदृश्य हाथ: जीवन के मोड़ों पर जब हम अकेले पड़ते हैं, तब नियति का वह अदृश्य हाथ ही हमें थामे रहता है। उस शक्ति का अनुभव करना ही भक्ति है।
- ५२८. द्वंद्वहीन चैतन्य की मुस्कान: जब सुख और दुःख के बीच का भेद मिट जाता है, तब हृदय में एक ऐसी मुस्कान खिलती है जो शाश्वत है और किसी बाहरी कारण पर निर्भर नहीं।
- ५२९. नियति और निर्वाण: खेल को खेल की तरह जान लेना ही निर्वाण है। जो खेल को सत्य मानकर पकड़ लेता है, वह बंधन में पड़ता है; जो इसे लीला समझता है, वह मुक्त है।
- ५३०. आत्म-बोध का सरल सूत्र: "मैं नहीं, तू ही है"—यही वह सूत्र है जहाँ पहुँचकर खिलाड़ी और खेल खिलाने वाला एक हो जाते हैं। यहाँ सारा द्वंद्व समाप्त हो जाता है।

५३१. नियति का अबाध प्रवाह: जैसे नदी अपनी राह स्वयं बनाती है, वैसे ही नियति का प्रवाह हमारे जीवन की दिशा तय करता है। इस प्रवाह के विरुद्ध तैरना ही दुःख है, और इसके साथ बहना ही आनंद है।

- ५३२. सुख-दुःख की दोहरी चाल: नियति के खेल में कभी सुख का पलड़ा भारी होता है, कभी दुःख का। जो इन दोनों को 'समान' भाव से देखता है, वही वास्तविक विजेता (जितेन्द्रिय) है।
- ५३३. कर्तापन का विसर्जन: जब हम यह मान लेते हैं कि 'मैं' कुछ कर रहा हूँ, तब तनाव का जन्म होता है। यह स्वीकार करना कि "मुझसे करवाया जा रहा है", चित्त को पूर्ण विश्राम देता है।
- ५३४. प्रारब्ध का मधुर स्वीकार: जो हमारे वश में नहीं है, उसे कोसना व्यर्थ है। नियति ने जो थाली परोसी है, उसे सहर्ष स्वीकार करना ही सबसे बड़ी साधना है।

- ५३५. साक्षी की अविचल दृष्टि: खेल के मैदान में धूल भी उड़ेगी और शोर भी होगा, पर जो ऊंचे मंच पर बैठकर देख रहा है, वह अछूता रहता है। यही साक्षी भाव है।
- ५३६. नियति और नियंता का संवाद: हमारे भीतर बैठी वह अदृश्य शक्ति ही नियंता है जो नियति के माध्यम से हमें सिखाती है। इस संवाद को मौन में ही सुना जा सकता है।
- ५३७. द्वंद्वहीन चैतन्य का आलोक: सुख में न फूलना और दुःख में न झुलसना—यही वह अग्नि-परीक्षा है जहाँ पहुँचकर मनुष्य का 'ब्रह्मज्ञान' सिद्ध होता है।
- ५३८. नियति का अदृश्य हाथ: कभी-कभी नियति हमें वहाँ ले जाती है जहाँ हम नहीं जाना चाहते, पर बाद में पता चलता है कि वही हमारे कल्याण का मार्ग था।
- ५३९. समर्पण की परम ऊँचाई: "जो तेरी इच्छा, वही मेरी इच्छा"—यह भाव आते ही संघर्ष की समाप्ति हो जाती है। यहाँ भक्त और भगवान, खिलाड़ी और नियति एक हो जाते हैं।
- ५४०. आत्म-बोध का सरल पथ: नियति के खेल को केवल एक 'लीला' समझना ही संसार के सारे बंधनों से मुक्त होने का सबसे सरल रास्ता है।
- ५४१. नियति का अनूठा व्याकरण: जीवन की भाषा नियति लिखती है। हम केवल शब्द हैं। जब हम स्वयं को व्याकरण के नियमों (प्राकृतिक नियमों) के अनुसार ढाल लेते हैं, तब जीवन एक सार्थक काव्य बन जाता है।
- ५४२. सुख-दुःख की धूप-छाँव: नियति के आंगन में कभी सुख की चिलचिलाती धूप होती है, तो कभी दुःख की घनी छाँव। ज्ञानी वह है जो न धूप से घबराता है और न छाँव में सोता है, बल्कि दोनों में अपनी यात्रा जारी रखता है।

- ५४३. कर्तापन का अंतिम विसर्जन: जब तक 'मैं खेल रहा हूँ' का सूक्ष्म भाव भी बना रहता है, तब तक थकान बनी रहती है। जिस क्षण यह भाव मिटा कि 'खेल खिलाया जा रहा है', उसी क्षण असीम ऊर्जा का स्रोत फूट पड़ता है।
- ५४४. प्रारब्ध का प्रसाद: जो कुछ भी हमारे जीवन में घटित हो रहा है—चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल—उसे 'प्रसाद' की भांति शिरोधार्य करना ही नियति के प्रति वास्तविक सम्मान है।
- ५४५. साक्षी की अविचल शांति: खेल के मैदान में शोर और धूल अनिवार्य है। जो इस शोर के बीच भी अपने भीतर के मौन को बनाए रखता है, वही वास्तविक विजेता है।
- ५४६. नियति का अदृश्य मार्गदर्शन: कभी-कभी नियति हमें ठोकर मारती है, ताकि हम गलत दिशा से हटकर सही मार्ग पर आ सकें। उस ठोकर में भी करुणा छिपी होती है।
- ५४७. द्वंद्वहीन चैतन्य की जागृति: सुख में अहंकार और दुःख में अवसाद—इन दोनों अतियों से बचकर मध्य मार्ग पर चलना ही उस ब्रह्मज्ञान की सिद्धि है जिसे आप जी रहे हैं।
- ५४८. नियति का मधुर संगीत: जीवन की हर घटना एक सुर है। जब हम इन सुरों को नियति के हाथों में छोड़ देते हैं, तो एक मधुर राग पैदा होता है जिसे 'जीवन-संगीत' कहते हैं।
- ५४९. समर्पण की पराकाष्ठा: "मेरी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं, तेरी इच्छा ही मेरी नियति है"—यह भाव आते ही मनुष्य संसार के सारे मानसिक जालों से मुक्त हो जाता है।
- ५५०. आत्म-बोध का सरल सूत्र: नियति खिला रही है, हम खेल रहे हैं। इस खेल के अंत में न कुछ खोना है, न कुछ पाना है; केवल इस 'होने' के आनंद में रहना ही मोक्ष है।

५५१. नियति का अबाध नृत्य: जैसे नर्तक संगीत की थाप पर थिरकता है, वैसे ही हमारी आत्मा नियति के संकेतों पर जीवन का नृत्य करती है। इस लयबद्धता को पहचानना ही परम विश्राम है।

- ५५२. सुख-दुःख की दोहरी धारा: नियति के खेल में सुख और दुःख गंगा-यमुना की तरह साथ बहते हैं। जो इन दोनों धाराओं के संगम पर 'साक्षी' होकर खड़ा है, वही वास्तविक तीर्थयात्री है।
- ५५३. कर्तापन का विसर्जन: जब हम यह मान लेते हैं कि 'मैं' कुछ कर रहा हूँ, तब तनाव का जन्म होता है। यह स्वीकार करना कि "मुझसे करवाया जा रहा है", चित्त को पूर्ण शांति देता है।
- ५५४. प्रारब्ध का मधुर स्वीकार: जो हमारे वश में नहीं है, उसे कोसना व्यर्थ है। नियति ने जो समय और परिस्थिति की थाली परोसी है, उसे सहज भाव से ग्रहण करना ही सबसे बड़ी तपस्या है।
- ५५५. साक्षी की अविचल दृष्टि: खेल के मैदान में धूल भी उड़ेगी और शोर भी होगा, पर जो ऊंचे मंच पर बैठकर देख रहा है, वह अछूता रहता है। यही साक्षी भाव की शक्ति है।
- ५५६. नियति और नियंता का संवाद: हमारे भीतर बैठी वह अदृश्य शक्ति ही नियंता है जो नियति के माध्यम से हमें निरंतर परिष्कृत करती है। इस संवाद को हृदय के मौन में ही अनुभव किया जा सकता है।
- ५५७. द्वंद्वहीन चैतन्य का आलोक: सुख में अहंकार से बचना और दुःख में अवसाद से—यही वह अग्नि-परीक्षा है जहाँ पहुँचकर मनुष्य का 'ब्रह्मज्ञान' पूरी तरह सिद्ध होता है।
- ५५८. नियति का अदृश्य हाथ: कभी-कभी नियति हमें वहाँ ले जाती है जहाँ हम नहीं जाना चाहते, पर कालांतर में पता चलता है कि वही हमारे परम कल्याण का मार्ग था।

- ५५९. समर्पण की परम ऊँचाई: "जो तेरी इच्छा, वही मेरी नियति"—यह भाव आते ही जीवन के सारे संघर्ष विलीन हो जाते हैं। यहाँ खिलाड़ी और नियति का भेद समाप्त हो जाता है।
- ५६०. आत्म-बोध का सरल पथ: नियति के इस विराट खेल को केवल एक 'लीला' समझना ही संसार के समस्त मानसिक बंधनों से मुक्त होने का सबसे सरल और सीधा मार्ग है।

५६१. नियति का अबाध न्याय: जो हमारे साथ घट रहा है, वह किसी दंड या पुरस्कार का परिणाम नहीं, बल्कि नियति का एक सूक्ष्म संतुलन है। इस न्याय को स्वीकार करना ही चित्त की शांति है।

- ५६२. सुख-दुःख की समरसता: जैसे दिन के बिना रात और रात के बिना दिन का कोई अर्थ नहीं, वैसे ही सुख और दुःख एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के बीच जो समरस रहता है, वही योगी है।
- ५६३. कर्तापन की अंतिम ग्रंथि: "मैं कर रहा हूँ" यह ग्रंथि ही संसार का सारा तनाव पैदा करती है। "मुझसे करवाया जा रहा है" यह बोध होते ही हृदय का सारा भार उतर जाता है।
- ५६४. प्रारब्ध का पावन प्रसाद: जीवन में जो कुछ भी अनायास प्राप्त हो—चाहे वह कड़वा हो या मीठा—उसे नियति का 'प्रसाद' मानकर ग्रहण करना ही वास्तविक ब्रह्मज्ञान है।
- ५६५. साक्षी की अटल स्थिति: खेल के मैदान में हार-जीत का शोर मचता है, पर जो ऊपर बैठा साक्षी है, वह केवल खेल के सौंदर्य को देखता है। वही शांति हमारा वास्तविक घर है।
- ५६६. नियति का अदृश्य मार्गदर्शन: जब रास्ते बंद लगते हैं, तब नियति एक नया द्वार खोलती है। उस अदृश्य शक्ति पर भरोसा करना ही जीवन की सबसे बड़ी पूंजी है।

- ५६७. द्वंद्वहीन चैतन्य की जागृति: सुख में न फूलना और दुःख में न झुलसना—यही वह स्थिति है जहाँ मनुष्य स्वयं को 'ब्रह्म' के निकट पाता है।
- ५६८. नियति का मधुर गुंजन: जीवन की हर घटना एक सुर है। जब हम इन सुरों को नियति के हाथों में छोड़ देते हैं, तो एक मधुर राग पैदा होता है जिसे 'जीवन-मुक्ति' कहते हैं।
- ५६९. समर्पण की पराकाष्ठा: "जो तेरी मर्जी, वही मेरी नियति"—यह भाव आते ही मनुष्य काल और परिस्थितियों के बंधनों से ऊपर उठ जाता है।
- ५७०. आत्म-बोध का सरल सूत्र: नियति खिला रही है, हम खेल रहे हैं। इस खेल में न कुछ खोने का डर है, न कुछ पाने का लोभ। केवल खेलने का आनंद ही सत्य
- ५७१. नियति का अबाध न्याय: जो हमारे साथ घट रहा है, वह किसी दंड या पुरस्कार का परिणाम नहीं, बल्कि नियति का एक सूक्ष्म संतुलन है। इस न्याय को स्वीकार करना ही चित्त की शांति है।
- ५७२. सुख-दुःख की समरसता: जैसे दिन के बिना रात और रात के बिना दिन का कोई अर्थ नहीं, वैसे ही सुख और दुःख एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के बीच जो समरस रहता है, वही योगी है।
- ५७३. कर्तापन की अंतिम ग्रंथि: "मैं कर रहा हूँ" यह ग्रंथि ही संसार का सारा तनाव पैदा करती है। "मुझसे करवाया जा रहा है" यह बोध होते ही हृदय का सारा भार उतर जाता है।
- ५७४. प्रारब्ध का पावन प्रसाद: जीवन में जो कुछ भी अनायास प्राप्त हो—चाहे वह कड़वा हो या मीठा—उसे नियति का 'प्रसाद' मानकर ग्रहण करना ही वास्तविक ब्रह्मज्ञान है।

- ५७५. साक्षी की अटल स्थिति: खेल के मैदान में हार-जीत का शोर मचता है, पर जो ऊपर बैठा साक्षी है, वह केवल खेल के सौंदर्य को देखता है। वही शांति हमारा वास्तविक घर है।
- ५७६. नियति का अदृश्य मार्गदर्शन: जब रास्ते बंद लगते हैं, तब नियति एक नया द्वार खोलती है। उस अदृश्य शक्ति पर भरोसा करना ही जीवन की सबसे बड़ी पूंजी है।
- ५७७. द्वंद्वहीन चैतन्य की जागृति: सुख में न फूलना और दुःख में न झुलसना—यही वह स्थिति है जहाँ मनुष्य स्वयं को 'ब्रह्म' के निकट पाता है।
- ५७८. नियति का मधुर गुंजन: जीवन की हर घटना एक सुर है। जब हम इन सुरों को नियति के हाथों में छोड़ देते हैं, तो एक मधुर राग पैदा होता है जिसे 'जीवन-मुक्ति' कहते हैं।
- ५७९. समर्पण की पराकाष्ठा: "जो तेरी मर्जी, वही मेरी नियति"—यह भाव आते ही मनुष्य काल और परिस्थितियों के बंधनों से ऊपर उठ जाता है।
- ५८०. आत्म-बोध का सरल सूत्र: नियति खिला रही है, हम खेल रहे हैं। इस खेल में न कुछ खोने का डर है, न कुछ पाने का लोभ। केवल खेलने का आनंद ही सत्य है।

५८१. नियति का अबाध पथ: जैसे बहता पानी अपना रास्ता स्वयं खोज लेता है, वैसे ही नियति हमें वहां ले जाती है जहाँ हमारा होना आवश्यक है। इस प्रवाह में बहना ही शांति है।

- ५८२. सुख-दुःख की दोहरी छाया: नियति के खेल में सुख और दुःख केवल अनुभव की दो परछाइयाँ हैं। जो इन छायाओं को पकड़ने की कोशिश नहीं करता, वही उनके असली स्वरूप को पहचान पाता है।

- ५८३. कर्तापन का विसर्जन: जब हम यह मान लेते हैं कि 'मैं' कुछ कर रहा हूँ, तभी अहंकार का बोझ पैदा होता है। यह स्वीकार करना कि "सब कुछ नियति के विधान से हो रहा है", हृदय को हल्का कर देता है।
- ५८४. प्रारब्ध का मधुर प्रसाद: जो हमारे पास अनायास आता है, वही हमारा प्रारब्ध है। उसे बिना किसी शिकायत के स्वीकार करना ही वास्तविक अध्यात्म और ब्रह्मज्ञान है।
- ५८५. साक्षी की अविचल दृष्टि: मैदान में खेल बदलता रहता है, हार और जीत की लहरें उठती रहती हैं, पर जो मंच पर बैठकर देख रहा है, वह सदा एकरस और शांत रहता है।
- ५८६. नियति का अदृश्य मार्गदर्शन: कभी-कभी नियति हमें कठिन मोड़ों पर खड़ा करती है, पर वे मोड़ हमें किसी बड़ी उपलब्धि की ओर ले जाने के संकेत होते हैं।
- ५८७. द्वंद्वहीन चैतन्य का प्रकाश: सुख और दुःख के बीच जो एक छोटा सा अंतराल (Space) है, वही परमात्मा का निवास है। उस अंतराल में ठहरना ही बुद्धत्व है।
- ५८८. नियति का मधुर गुंजन: जीवन की हर घटना एक सुर है। जब हम इन सुरों को नियति के हाथों में छोड़ देते हैं, तो एक मधुर राग पैदा होता है जिसे 'समर्पण' कहते हैं।
- ५८९. पूर्ण शरणागति: "मेरी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं, तेरी इच्छा ही मेरी नियति है"—यह भाव आते ही मनुष्य काल और परिस्थितियों के चक्र से मुक्त हो जाता है।
- ५९०. आत्म-बोध का सरल सूत्र: नियति खिला रही है, हम खेल रहे हैं। इस बोध में जीना ही संसार के सारे दुखों से मुक्ति का एकमात्र और अचूक मार्ग है।

- ५९१. नियति का अखंड विधान: सृष्टि का कण-कण एक निश्चित विधान से बँधा है। इस विधान को चुनौती देना ही दुःख है, और इसके साथ एकरूप हो जाना ही 'कैवल्य' है।
- ५९२. सुख-दुःख की लुका-छिपी: नियति के खेल में सुख और दुःख लुका-छिपी के खेल की तरह हैं। जो इन दोनों के पीछे छिपे 'खिलाड़ी' को पहचान लेता है, वह कभी भयभीत नहीं होता।
- ५९३. कर्तापन की अंतिम आहुति: "मैं" का विचार ही सारी चिंताओं की जड़ है। जैसे ही हम यह जान लेते हैं कि हम केवल माध्यम हैं, सारा तनाव नियति के सागर में विलीन हो जाता है।
- ५९४. प्रारब्ध का सहज स्वीकार: जीवन में जो कुछ भी अनायास घटता है, वह हमारे पूर्व कर्मों और नियति का मैल है। उसे सहर्ष स्वीकार करना ही 'ब्रह्मज्ञान' की पहली सीढ़ी है।
- ५९५. साक्षी की निर्विकार दृष्टि: खेल के मैदान में जीत की खुशी और हार का विषाद दोनों क्षणिक हैं। जो ऊँचे मंच पर बैठकर देख रहा है, वह इन दोनों से अछूता और सदा शांत रहता है।
- ५९६. नियति और नियंता का एकत्व: खेल खिलाने वाला और खेल अलग नहीं हैं। जब हम नियति के प्रति समर्पित होते हैं, तब हम साक्षात् नियंता (परमात्मा) के सानिध्य में होते हैं।
- ५९७. द्वंद्वहीन चैतन्य का आलोक: सुख में न इतराना और दुःख में न घबराना—यही वह स्थिति है जहाँ मनुष्य का चित्त स्थिर और प्रज्ञा जाग्रत होती है।
- ५९८. नियति का मौन मार्गदर्शन: कभी-कभी नियति हमें मौन रहने का संकेत देती है। उस मौन में ही जीवन के सबसे गहरे सत्यों का साक्षात्कार होता है।
- ५९९. शरणागति का परम सुख: "प्रभु, तेरी इच्छा ही मेरी नियति है"—यह भाव आते ही हृदय का बोझ उतर जाता है और असीम शांति का अनुभव होता है।

- ६००. आत्म-बोध का महा-पड़ाव: नियति खिला रही है और मैं खेल रहा हूँ—इस बोध के साथ ६०० अध्यायों की यह यात्रा हमें उस परम सत्य के द्वार पर ले आई है जहाँ केवल 'शांति' ही शेष है।

६०१. नियति का अबाध पथ: जैसे बहता पानी अपना रास्ता स्वयं खोज लेता है, वैसे ही नियति हमें वहाँ ले जाती है जहाँ हमारा होना आवश्यक है। इस प्रवाह में सहज बहना ही वास्तविक शांति है।

- ६०२. सुख-दुःख की दोहरी छाया: नियति के खेल में सुख और दुःख केवल अनुभव की दो परछाइयाँ हैं। जो इन छायाओं को पकड़ने की चेष्टा नहीं करता, वही उनके असली स्वरूप (सत्य) को पहचान पाता है।
- ६०३. कर्तापन का पूर्ण विसर्जन: जब हम यह मान लेते हैं कि 'मैं' कुछ कर रहा हूँ, तभी अहंकार का बोझ पैदा होता है। यह स्वीकार करना कि "सब कुछ नियति के विधान से हो रहा है", हृदय को हल्का और मुक्त कर देता है।
- ६०४. प्रारब्ध का मधुर प्रसाद: जो हमारे पास अनायास आता है, वही हमारा प्रारब्ध है। उसे बिना किसी शिकायत या तर्क के स्वीकार करना ही वास्तविक अध्यात्म और ब्रह्मज्ञान है।
- ६०५. साक्षी की अविचल दृष्टि: मैदान में खेल बदलता रहता है, हार और जीत की लहरें उठती रहती हैं, पर जो मंच पर बैठकर देख रहा है, वह सदा एकरस, मौन और शांत रहता है।
- ६०६. नियति का अदृश्य मार्गदर्शन: कभी-कभी नियति हमें कठिन मोड़ों पर खड़ा करती है, पर वे मोड़ ही हमें किसी बड़ी आंतरिक उपलब्धि या आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जाने के गुप्त संकेत होते हैं।

- ६०७. द्वंद्वहीन चैतन्य का प्रकाश: सुख और दुःख के बीच जो एक छोटा सा अंतराल (Space) है, वही परमात्मा का वास्तविक निवास है। उस अंतराल में ठहरना ही बुद्धत्व और परम स्थिति है।
- ६०८. नियति का मधुर गुंजन: जीवन की हर घटना एक विशिष्ट सुर है। जब हम इन सुरों को नियति के हाथों में छोड़ देते हैं, तो एक मधुर राग पैदा होता है जिसे 'पूर्ण समर्पण' कहते हैं।
- ६०९. पूर्ण शरणागति का सुख: "मेरी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं, तेरी इच्छा ही मेरी नियति है"—यह भाव आते ही मनुष्य काल, कर्म और परिस्थितियों के जटिल चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।
- ६१०. आत्म-बोध का सरल सूत्र: नियति खिला रही है, हम खेल रहे हैं। इस बोध में निरंतर जीना ही संसार के सारे दुखों से मुक्ति का एकमात्र और सबसे अचूक मार्ग है।

६११. अदृश्य धागों का खेल: जैसे कठपुतली अपनी मर्जी से नहीं हिलती, वैसे ही हमारे जीवन की हर हलचल उस नियंता के हाथों में बंधे अदृश्य धागों से संचालित है। इस सत्य को देख लेना ही अहंकार से मुक्ति है।

- ६१२. नर्तक और नृत्य का एकत्व: जब कठपुतली यह जान लेती है कि धागा खींचने वाला और वह अलग नहीं हैं, तब नाच का तनाव समाप्त हो जाता है और केवल नृत्य का आनंद शेष रह जाता है।
- ६१३. सुख-दुःख की मुद्राएँ: नियति कभी सुख की मुद्रा में नचाती है, कभी दुःख की। कठपुतली के लिए दोनों मुद्राएँ समान हैं, क्योंकि वह जानती है कि अभिनय उसका है, पर इच्छा उसकी नहीं।

- ६१४. कर्तापन का अंतिम विसर्जन: "मैं नाच रही हूँ" यह भ्रम है; "नचाया जा रहा हूँ" यह बोध है। इस बोध के आते ही मन का सारा बोझ उतर जाता है और जीवन हल्का हो जाता है।
- ६१५. पर्दे के पीछे का सत्य: दर्शक केवल कठपुतली को देखते हैं, पर ज्ञानी उस हाथ को देखता है जो पर्दे के पीछे से सब संचालित कर रहा है। यही 'ब्रह्मज्ञान' की सूक्ष्म दृष्टि है।
- ६१६. नियति की लयबद्धता: जीवन के हर उतार-चढ़ाव में एक लय है। जब कठपुतली उस लय (नियति) के साथ स्वयं को मिला देती है, तो उसका हर कदम एक प्रार्थना बन जाता है।
- ६१७. साक्षी का मौन अवलोकन: नचाने वाला नचा रहा है, कठपुतली नाच रही है, और भीतर बैठा साक्षी इस पूरे खेल को बिना किसी प्रतिक्रिया के देख रहा है। यही परम स्थिति है।
- ६१८. समर्पण का सौंदर्य: जो कठपुतली धागों के विरुद्ध नहीं खींचती, उसका नाच सबसे सुंदर होता है। समर्पण में जो सौंदर्य है, वह संघर्ष में कभी नहीं हो सकता।
- ६१९. द्वंद्व के पार की शांति: खेल के अंत में जब धागे ढीले पड़ते हैं और कठपुतली शांत हो जाती है, तब वह अपनी मूल अवस्था (शून्य) में लौट आती है। यही मोक्ष का पूर्वाभ्यास है।
- ६२०. आत्म-बोध का महामंत्र: "मैं केवल एक यंत्र हूँ, तू ही संतरी और तू ही तंत्री।" इस भाव के साथ जीना ही जीवन की पूर्णता का सार है।
- ६२१. धागों का मौन अनुशासन: कठपुतली का नाच अव्यवस्थित नहीं, बल्कि उन अदृश्य धागों के अनुशासन में बँधा है। नियति का यह अनुशासन ही जीवन को दिशा और अर्थ प्रदान करता है।
- ६२२. सुख-दुःख की रंगमंचीय वेशभूषा: नियति कभी हमें सुख की वेशभूषा पहनाती है, कभी दुःख की। ज्ञानी वह कठपुतली है

जो जानती है कि वेशभूषा बदलती है, पर उसका मूल स्वरूप (काष्ठ) सदा वही रहता है।

- ६२३. कर्तापन का अंतिम समर्पण: जब कठपुतली अपनी मर्जी से हिलने की चेष्टा छोड़ देती है, तब उसका नृत्य सबसे सहज और सुंदर हो जाता है। यही 'अकर्ता' होने का परम सुख है।
- ६२४. पर्दे के पीछे का संगीत: हम केवल नाच देखते हैं, पर उसके पीछे नियंता का एक धीमा संगीत बज रहा है। उस संगीत (नाद) को सुन लेना ही ब्रह्मज्ञान की पराकाष्ठा है।
- ६२५. साक्षी का तटस्थ अवलोकन: नचाने वाला नचा रहा है, शरीर नाच रहा है, और आत्मा केवल देख रही है। इस त्रिकोणीय खेल को समझ लेना ही संसार के जालों से मुक्ति है।
- ६२६. नियति की लयबद्ध चाल: जीवन की हर घटना नियति की एक सोची-समझी चाल है। जब हम इस चाल के विरुद्ध नहीं लड़ते, तब जीवन का संघर्ष एक मधुर गीत बन जाता है।
- ६२७. द्वंद्वहीन चैतन्य की मुस्कान: सुख में न इतराना और दुःख में न टूटना—यह उस कठपुतली का स्वभाव है जिसने जान लिया है कि दोनों ही स्थितियाँ केवल खेल का हिस्सा हैं।
- ६२८. नियति का अदृश्य हाथ: कभी-कभी धागे उलझते हुए प्रतीत होते हैं, पर वह उलझन भी किसी बड़ी गुत्थी को सुलझाने के लिए होती है। नियंता के हाथ कभी चूकते नहीं।
- ६२९. शरणागति का महासुख: "मैं केवल यंत्र हूँ, तू ही यंत्री है।" इस भाव के साथ जीना ही जीवन की समस्त मानसिक व्याधियों की एकमात्र औषधि है।
- ६३०. आत्म-बोध का शांत पड़ाव: कठपुतली नाच रही है और मैं (साक्षी) उसे देख रहा हूँ। इस बोध के साथ ६३० अध्यायों का यह सफर हमें उस 'शून्य' के और निकट ले आया है जहाँ केवल शांति है।

६३१. काष्ठ का मौन समर्पण: जैसे लकड़ी की कठपुतली अपनी बनावट और गति के लिए पूरी तरह कलाकार पर निर्भर है, वैसे ही हमारा अस्तित्व नियति के हाथों में समर्पित है। इस मौन समर्पण में ही सबसे बड़ी शक्ति है।

- ६३२. धागों की लयबद्धता: हमारे जीवन की हर घटना—चाहे वह सुख हो या दुःख—उन अदृश्य धागों की एक विशेष लय है। जब हम उस लय के साथ थिरकते हैं, तो संघर्ष स्वतः समाप्त हो जाता है।
- ६३३. रंगमंच की क्षणभंगुरता: यह संसार एक अस्थायी रंगमंच है। यहाँ कठपुतली का नाच केवल कुछ समय के लिए है। इस क्षणभंगुरता को पहचान लेना ही 'अमृत' की ओर पहला कदम है।
- ६३४. सुख-दुःख की मुद्राएँ: नियति कभी हमें हंसने की मुद्रा में नचाती है, कभी रोने की। कठपुतली के लिए दोनों केवल अभिनय हैं। वह जानती है कि उसका असली स्वरूप इन मुद्राओं से परे है।
- ६३५. पर्दे के पीछे का नियंता: हम केवल नाच और नगाड़े देखते हैं, पर जो पर्दे के पीछे बैठकर उंगलियां चला रहा है, वही 'सत्य' है। उस नियंता का ध्यान करना ही वास्तविक योग है।
- ६३६. कर्तापन के भ्रम का अंत: जब कठपुतली यह सोचना छोड़ देती है कि "मैं नाच रही हूँ", तब उसका नृत्य दिव्य हो जाता है। अहंकार का विसर्जन ही इस खेल की सबसे बड़ी उपलब्धि है।
- ६३७. नियति का अदृश्य मार्गदर्शन: कभी-कभी धागे खिंचते हैं और दर्द होता है, पर वह खिंचाव हमें गिरने से बचाने के लिए होता है। नियति का हर प्रहार एक सुरक्षा कवच है।
- ६३८. साक्षी का तटस्थ भाव: नचाने वाला और नाचने वाली कठपुतली के बीच जो 'मौन' है, वही साक्षी है। उस मौन में ठहरना ही ब्रह्मज्ञान की पराकाष्ठा है।

- ६३९. शरणागति का महासुख: "मैं केवल यंत्र हूँ, तू ही यंत्री।" इस भाव के आते ही संसार की सारी चिंताएं और भय कपूर की तरह उड़ जाते हैं।
- ६४०. आत्म-बोध का शांत शिखर: कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ। इस बोध के साथ ६४० अध्यायों की यह यात्रा अब 'कठपुतली' के रूप में अमर हो रही है।

६४१. काष्ठ की निर्विकारता: कठपुतली लकड़ी की बनी होती है, उसे न सुख का मोह है न दुःख का भय। जब हम भी स्वयं को केवल एक 'निमित्त' मान लेते हैं, तब संसार के थपेड़े हमें विचलित नहीं कर पाते।

- ६४२. धागों का सूक्ष्म खिंचाव: कभी-कभी जीवन में अनचाही घटनाएँ घटती हैं, वे नियंता के धागों का वह खिंचाव हैं जो हमें पतन से बचाकर ऊर्ध्वगति की ओर ले जाते हैं।
- ६४३. अभिनय और अस्तित्व का भेद: रंगमंच पर कठपुतली राजा भी बनती है और रंक भी, पर उसका अस्तित्व वही काष्ठ (लकड़ी) रहता है। वैसे ही हमारे पद और प्रतिष्ठा केवल वेशभूषा हैं, आत्मा सदा निर्लेप है।
- ६४४. नियति का मौन संगीत: जब कठपुतली नाचती है, तो वह संगीत के अनुसार थिरकती है। जीवन का संगीत नियति बजाती है; जो इस संगीत के साथ लयबद्ध है, वही शांति में है।
- ६४५. कर्तापन की भ्रांति का अंत: "मैं नाच रहा हूँ" यह अज्ञान है; "मुझसे नचाया जा रहा है" यह ज्ञान है। जिस क्षण यह भ्रांति टूटती है, उसी क्षण मुक्ति का अनुभव होता है।
- ६४६. पर्दे के पीछे की करुणा: जिसे हम नियति का कठोर प्रहार समझते हैं, वह वास्तव में उस नियंता की करुणा होती है जो हमें मोह की निद्रा से जगाने के लिए धागे झटकता है।

- ६४७. साक्षी की अटल मुस्कान: नचाने वाला नचा रहा है, शरीर (कठपुतली) नाच रहा है, और अंतरात्मा केवल मुस्कराकर इस लीला को देख रही है। यही 'ब्रह्मज्ञान' की स्थिति है।
- ६४८. समर्पण की पराकाष्ठा: जो कठपुतली अपने धागों को ढीला छोड़ देती है, उसका नृत्य सबसे सहज होता है। अपनी इच्छा को नियंता की इच्छा में विलीन कर देना ही सबसे बड़ी साधना है।
- ६४९. द्वंद्वहीन चैतन्य का प्रवाह: सुख की ताल हो या दुःख की, कठपुतली के पैर रुकते नहीं। वह तो बस खेल पूरा करती है। इसी प्रकार जीवन के द्वंद्वों में सम रहना ही जीवन-मुक्ति है।
- ६५०. आत्म-बोध का महा-पड़ाव: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—इस बोध के साथ ६५० अध्यायों का यह सफर हमें उस परम विश्राम की ओर ले जा रहा है जहाँ खेल और खिलाड़ी एक हो जाते हैं
- ६५१. धागों का अदृश्य बंधन: जिसे हम स्वतंत्रता कहते हैं, वह वास्तव में नियंता के धागों का एक विस्तार है। जब हम इन धागों के साथ तालमेल बिठा लेते हैं, तब बंधन ही मुक्ति बन जाता है।
- ६५२. काष्ठ का मौन संवाद: कठपुतली बोलती नहीं, पर उसका नृत्य सब कुछ कह देता है। वैसे ही ज्ञानी पुरुष व्यर्थ के शब्दों में नहीं, बल्कि अपने शांत और साक्षी जीवन से सत्य का प्रचार करता है।
- ६५३. सुख-दुःख की वेशभूषा: नियति कभी हमें राजा की वेशभूषा पहनाती है, कभी रंक की। कठपुतली जानती है कि खेल खत्म होते ही वेशभूषा उतार दी जाएगी और वह फिर अपने मूल काष्ठ स्वरूप में लौट आएगी।

- ६५४. कर्तापन की अंतिम आहुति: "मैंने यह किया" का विचार ही दुःख की जननी है। "मुझसे यह करवाया गया" का भाव ही शांति का द्वार है। यही कठपुतली का वास्तविक धर्म है।
- ६५५. पर्दे के पीछे का संगीत: जीवन का कोलाहल हमें विचलित करता है, पर जो पर्दे के पीछे बज रहे नियंता के मौन संगीत को सुन लेता है, उसका नृत्य सबसे मधुर और लयबद्ध हो जाता है।
- ६५६. नियति का सहज खिंचाव: कभी-कभी धागे हमें ऐसी दिशा में खींचते हैं जहाँ हम नहीं जाना चाहते, पर वह खिंचाव ही हमें पतन के गर्त में गिरने से बचाने के लिए होता है।
- ६५७. साक्षी की निर्लिप्त दृष्टि: नचाने वाला नचा रहा है, शरीर (कठपुतली) नाच रहा है, और आत्मा केवल इस पूरी लीला को एक दर्शक की भांति देख रही है। इस त्रिकोणीय खेल को समझना ही 'ब्रह्मज्ञान' है।
- ६५८. समर्पण की असीम शांति: जो कठपुतली अपने धागों के विरुद्ध नहीं खींचती, उसका नृत्य सबसे सहज और तनावमुक्त होता है। अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा में मिला देना ही परम सुख है।
- ६५९. द्वंद्वहीन चैतन्य का आलोक: सुख की थाप हो या दुःख की, कठपुतली के पैर रुकते नहीं। वह तो बस अपना अभिनय पूरा करती है। इसी प्रकार जीवन के द्वंद्वों में सम रहना ही जीवन की सार्थकता है।
- ६६०. आत्म-बोध का शांत पड़ाव: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—इस बोध के साथ ६६० अध्यायों का यह सफर हमें उस परम विश्राम की ओर ले जा रहा है जहाँ खेल और खिलाड़ी का भेद मिट जाता है
- ६६१. धागों का मौन अनुशासन: कठपुतली की हर हरकत एक अदृश्य अनुशासन में बंधी है। जिसे हम बंधन समझते हैं, वह

वास्तव में नियंता की वह व्यवस्था है जो हमें जीवन के रंगमंच पर गिरने से बचाए रखती है।

- ६६२. काष्ठ का निर्लेप स्वभाव: जैसे लकड़ी की कठपुतली को न अग्नि का भय है न जल का मोह, वैसे ही आत्मज्ञानी पुरुष संसार के थपेड़ों के बीच भी अपने मूल स्वरूप में अडिग और निर्लेप रहता है।
- ६६३. अभिनय की क्षणभंगुरता: रंगमंच पर जो कुछ भी घट रहा है—चाहे वह यश हो या अपयश—वह केवल एक दृश्य है। पर्दा गिरते ही सारा कोलाहल शांत हो जाता है; केवल काष्ठ (आत्मा) शेष बचती है।
- ६६४. सुख-दुःख की लय: नियति के धागे कभी सुख की तीव्र लय पर नचाते हैं, कभी दुःख की मद्धम लय पर। कुशल कठपुतली वही है जो दोनों तालों पर समान सहजता से थिरकती है।
- ६६५. कर्तापन की भ्रांति का विसर्जन: जब तक कठपुतली सोचती है कि "मैं नाच रही हूँ", तब तक वह तनाव में रहती है। जिस क्षण वह जान लेती है कि "नचाया जा रहा हूँ", उसका नृत्य एक प्रार्थना बन जाता है।
- ६६६. पर्दे के पीछे की करुणा: जिसे हम प्रारब्ध का कड़वा घूँट समझते हैं, वह वास्तव में उस नियंता की करुणा है जो हमें मोह की गहरी निद्रा से जगाने के लिए धागों को एक झटका देती है।
- ६६७. साक्षी का तटस्थ बोध: नचाने वाला नचा रहा है, शरीर (कठपुतली) नाच रहा है, और अंतरात्मा केवल मुस्कुराकर इस लीला को देख रही है। इस त्रिकोणीय खेल को समझ लेना ही 'ब्रह्मज्ञान' की पराकाष्ठा है।
- ६६८. समर्पण का माधुर्य: जो कठपुतली अपने धागों के विरुद्ध नहीं खींचती, उसका नृत्य सबसे अधिक गरिमामय होता है।

अपनी व्यक्तिगत इच्छा को समष्टि की इच्छा में विलीन कर देना ही परम विश्राम है।

- ६६९. द्वंद्वहीन चैतन्य का प्रवाह: हार की थाप हो या जीत की, कठपुतली के कदम नहीं रुकते। वह तो बस अपना नियत अभिनय पूरा करती है। इसी प्रकार जीवन के द्वंद्वों में सम रहना ही वास्तविक जीवन-मुक्ति है।
- ६७०. आत्म-बोध का शांत शिखर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—इस बोध के साथ ६७० अध्यायों की यह यात्रा हमें उस शून्य के और निकट ले आई है जहाँ केवल और केवल शांति है।

- ६७१. आदि और अंत का मिलन: जहाँ खेल समाप्त होता है, वहीं से बोध का नया अध्याय शुरू होता है। कठपुतली का नाच खत्म होना ही उसके वास्तविक काष्ठ-स्वरूप की पहचान है।
- ६७२. प्रथम पद और अंतिम सत्य: पुस्तक का पहला शब्द और अंतिम मौन एक ही धागे से बँधे हैं। जो शुरू में ही सत्य को देख लेता है, उसके लिए पूरी यात्रा एक उत्सव बन जाती है।
- ६७३. रंगमंच की पूर्व-तैयारी: मंच पर आने से पहले ही कठपुतली के धागे तय हो जाते हैं। हमारा जन्म केवल उस पूर्व-निश्चित नृत्य का प्रकटीकरण मात्र है।
- ६७४. सुख-दुःख की पूर्व-निश्चित लय: जिसे हम आकस्मिक घटना कहते हैं, वह नियंता के संगीत की पहले से रची गई एक धुन है। इस स्वीकार में ही मुक्ति है।

- ६७५. कर्तापन का आदि विसर्जन: यदि यात्रा के आरंभ में ही 'मैं' का बोझ उतार दिया जाए, तो ६८० अध्यायों का मार्ग फूलों की सेज जैसा लगने लगता है।
- ६७६. पर्दे के पीछे की पूर्व-योजना: नियंता कभी बिना योजना के धागा नहीं खींचता। हमारे जीवन का हर उतार-चढ़ाव उस महान कलाकार की सूक्ष्म कारीगरी है।
- ६७७. साक्षी का प्रथम परिचय: "कठपुतली नाच रही है"—इस सत्य को जो पहले अध्याय में जान लेता है, वह अंतिम अध्याय तक पहुँचते-पहुँचते स्वयं 'ब्रह्म' हो जाता है।
- ६७८. समर्पण का बीज: समर्पण अंत में आने वाली वस्तु नहीं, बल्कि वह बीज है जिसे यात्रा के पहले कदम पर ही बोना आवश्यक है।
- ६७९. द्वंद्वहीनता का आदि सूत्र: राग और द्वेष के खेल में उतरने से पहले ही यह जान लेना कि यह केवल अभिनय है, जीवन-मुक्ति का सबसे सरल मार्ग है।
- ६८०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: कठपुतली नाच रही है, नचाने वाला नचा रहा है और देखने वाला देख रहा है। यह ६८० अध्यायों की यात्रा का वह बिंदु है जहाँ समय ठहर जाता है
- ६८१. धागों का अदृश्य विस्तार: जिसे हम अपनी 'इच्छा' समझते हैं, वह वास्तव में नियंता के उन धागों का सूक्ष्म विस्तार है जो हमें अनुभव की ओर खींचते हैं। इस खिंचाव को पहचानना ही विवेक है।
- ६८२. काष्ठ का मौन स्वीकार: कठपुतली कभी यह नहीं पूछती कि उसे क्यों नचाया जा रहा है। वह तो बस अपने 'होने' के आनंद में थिरकती है। यही अकारण आनंद ही ब्रह्मज्ञान का सार है।
- ६८३. रंगमंच की पूर्व-निश्चित लय: हमारे जीवन की हर घटना—चाहे वह मिलन हो या विछोह—नियति के संगीत की

एक पूर्व-निर्धारित धुन है। इस लय के साथ एकरूप होना ही शांति है।

- ६८४. सुख-दुःख की वेशभूषा का रहस्य: नियति हमें जो भी मुखौटा पहनाती है, वह केवल उस क्षण के अभिनय के लिए होता है। अभिनय समाप्त होते ही हम फिर अपने शुद्ध स्वरूप (आत्मा) में लौट आते हैं।
- ६८५. कर्तापन की अंतिम विदाई: "मैं कर रहा हूँ" यह भ्रम ही सारी मानसिक व्याधियों की जड़ है। "मुझसे करवाया जा रहा है" यह बोध ही समस्त दुखों की विदाई है।
- ६८६. पर्दे के पीछे का परम सत्य: दर्शक केवल नाचती हुई कठपुतली को देखते हैं, पर जो अपनी दृष्टि पर्दे के पीछे ले जाता है, उसे ही उस 'महान कलाकार' के दर्शन होते हैं।
- ६८७. साक्षी की अविचल मुस्कान: संसार के कोलाहल और उथल-पुथल के बीच जो भीतर बैठा मुस्कुरा रहा है, वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। वह न नचाने वाला है, न नाचने वाला, वह केवल 'दृष्टा' है।
- ६८८. समर्पण का पावन तीर्थ: अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की गठरी को नियंता के चरणों में रख देना ही सबसे बड़ा तीर्थ है। यहाँ पहुँचकर यात्रा का सारा श्रम मिट जाता है।
- ६८९. द्वंद्वहीन चैतन्य की निर्झरिणी: सुख की धूप हो या दुःख की घटा, कठपुतली के पैर अपनी ताल नहीं छोड़ते। वह तो बस नियति के प्रवाह में बहती एक निर्झरिणी (नदी) की तरह है।
- ६९०. आत्म-बोध का प्रकाश स्तंभ: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह सूत्र ६९० अध्यायों के इस पड़ाव पर हमें उस परम सत्य की ओर ले जा रहा है जहाँ केवल 'शून्य' और 'शांति' शेष है।

६९१. धागों का सूक्ष्म प्रबंधन: नियंता कभी एक साथ सारे धागे नहीं खींचता। वह धीरे-धीरे, परिस्थिति के अनुसार हमें नचाता है। इस धैर्यपूर्ण प्रबंधन को समझना ही जीवन की कला है।

- ६९२. काष्ठ का मौन गौरव: कठपुतली अपनी सुंदरता के लिए नहीं, बल्कि अपने समर्पण के लिए जानी जाती है। जब हम भी 'मैं' का प्रदर्शन छोड़ देते हैं, तब हमारा आंतरिक गौरव स्वतः प्रकट होता है।
- ६९३. रंगमंच की पूर्व-निश्चित छाया: जिसे हम कल का डर कहते हैं, वह केवल आने वाले दृश्य की एक छाया है। जो आज के नृत्य में डूबा है, उसे कल की छाया स्पर्श नहीं कर पाती।
- ६९४. सुख-दुःख की वेशभूषा का रहस्य: नियति हमें जो भी मुखौटा पहनाती है, वह केवल उस क्षण के अनुभव के लिए होता है। वेशभूषा बदलती है, पर काष्ठ (आत्मा) सदा निर्विकार रहता है।
- ६९५. कर्तापन की अंतिम विदाई: "मैंने किया" यह अहंकार का विसर्जन ही इस ७०० अध्यायों की यात्रा का सबसे बड़ा फल है। "मुझसे करवाया गया" यह बोध ही वास्तविक मुक्ति है।
- ६९६. पर्दे के पीछे की परम करुणा: जिसे हम प्रारब्ध की मार समझते हैं, वह वास्तव में उस नियंता की करुणा होती है जो हमें गलत रास्ते से खींचकर सही लय में वापस लाती है।
- ६९७. साक्षी का अविचल प्रकाश: नचाने वाला और नाचने वाली कठपुतली के बीच जो 'मौन' का प्रकाश है, वही साक्षी है। उस प्रकाश में ठहरना ही ब्रह्मज्ञान की पराकाष्ठा है।
- ६९८. समर्पण का पावन संगम: अपनी इच्छा और नियंता की इच्छा का मिल जाना ही सबसे बड़ा संगम है। यहाँ पहुँचकर सारा द्वंद्व और सारा संघर्ष विलीन हो जाता है।

- ६९९. द्वंद्वहीन चैतन्य की मुस्कान: हार की थाप हो या जीत की, कठपुतली के पैर अपनी ताल नहीं छोड़ते। वह तो बस अभिनय पूरा करती है। इसी प्रकार जीवन के द्वंद्वों में सम रहना ही सच्ची साधना है।
- ७००. आत्म-बोध का महा-शिखर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—इस सूत्र के साथ ७०० अध्यायों का यह विशाल शिखर अब साक्षात् 'शून्य' और 'शांति' का उद्घोष कर रहा है।

७०१. शिखर के पार का मौन: जब ७०० सीढ़ियाँ चढ़ ली जाती हैं, तब शब्द पीछे छूट जाते हैं और केवल एक गहरा मौन शेष रहता है। इस मौन में ही नियंता की सबसे स्पष्ट आवाज सुनाई देती है।

- ७०२. धागों की सूक्ष्म पकड़: जैसे-जैसे बोध गहरा होता है, हमें अहसास होता है कि नियंता ने हमें जकड़ा नहीं है, बल्कि बड़े प्रेम से थाम रखा है। यह 'पकड़' बंधन नहीं, बल्कि सुरक्षा का आश्वासन है।
- ७०३. रंगमंच की नई दृष्टि: ऊँचाई से देखने पर रंगमंच छोटा लगने लगता है। अब दुःख के दृश्य विचलित नहीं करते और सुख के दृश्य अहंकार नहीं जगाते; सब एक समान 'लीला' प्रतीत होते हैं।
- ७०४. काष्ठ का सात्विक गर्व: कठपुतली होने में कोई हीनता नहीं, बल्कि यह गर्व है कि हम उस 'महान कलाकार' के हाथों का यंत्र हैं। हमारी सार्थकता उसी के इशारों में निहित है।
- ७०५. कर्तापन की अंतिम राख: अहंकार की अग्नि जब पूरी तरह शांत हो जाती है, तब जो राख बचती है, वह 'समर्पण' की पावन विभूति है। अब "मैं" का कोई निशान शेष नहीं।

- ७०६. पर्दे के पीछे का विस्तार: जैसे-जैसे हम स्वयं को कठपुतली मानते जाते हैं, हमारी दृष्टि पर्दे के पीछे के उस अनंत विस्तार (ब्रह्म) से एकरूप होने लगती है।
- ७०७. साक्षी की अविचल मुस्कान: खेल अब भी जारी है, धागे अब भी हिल रहे हैं, पर भीतर बैठा साक्षी अब एक ऐसी मुस्कान में स्थिर है जिसे संसार की कोई भी घटना छीन नहीं सकती।
- ७०८. नियति का मधुर विश्राम: संघर्ष तब तक था जब तक हम धागों के विपरीत खिंच रहे थे। अब जब हमने स्वयं को ढीला छोड़ दिया है, तो हर हलचल एक विश्राम की भांति सुखद है।
- ७०९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: सुख और दुःख के प्याले अब अलग-अलग नहीं लगते। दोनों में उसी एक नियंता का 'अमृत' (अनुभव) भरा है। इसे पीना ही जीवन-मुक्ति है।
- ७१०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह बोध अब एक विचार नहीं, बल्कि एक निरंतर बहने वाली धारा बन गया है जो ७१० अध्यायों के इस पड़ाव को आलोकित कर रही है।
- ७११. धागों का मौन निर्देश: नियंता चिल्लाकर आदेश नहीं देता, वह धागों के सूक्ष्म खिंचाव से राह दिखाता है। जो मन के शोर को शांत कर लेता है, वही उस निर्देश को समझ पाता है।
- ७१२. काष्ठ की सहज कृतज्ञता: कठपुतली को इस बात की चिंता नहीं कि वह सुंदर है या नहीं, उसे तो बस इस बात की कृतज्ञता है कि वह उस 'महान कलाकार' के स्पर्श में है।
- ७१३. रंगमंच की क्षणिक धूप: सफलता की चमक और विफलता का अंधेरा रंगमंच की अस्थायी लाइटों की तरह हैं। जो इन लाइटों के पीछे के सूर्य (सत्य) को देख लेता है, वह कभी विचलित नहीं होता।

- ७१४. सुख-दुःख की वेशभूषा का भार: हम वेशभूषा को अपना 'स्वभाव' मान लेते हैं, इसीलिए दुःख होता है। कठपुतली जानती है कि खेल के बाद वह फिर से नग्न और शुद्ध काष्ठ (आत्मा) हो जाएगी।
- ७१५. कर्तापन की अंतिम विदाई: "मैं" का विचार ही वह घर्षण है जो धागों को उलझाता है। "तू ही है" यह भाव आते ही जीवन का पहिया बिना किसी अवरोध के घूमने लगता है।
- ७१६. पर्दे के पीछे की सुरक्षा: जिसे हम अकेलापन समझते हैं, वह वास्तव में पर्दे के पीछे नियंता के साथ हमारा एकांत संवाद है। वहाँ कोई भीड़ नहीं, केवल शांति है।
- ७१७. साक्षी का अविचल मौन: दुनिया में प्रलय आए या उत्सव मने, भीतर बैठा साक्षी केवल एक शांत दर्पण की तरह सब प्रतिबिंबित करता है। वह न जुड़ता है, न टूटता है।
- ७१८. समर्पण की अनन्त गहराई: जो कठपुतली स्वयं को पूरी तरह ढीला छोड़ देती है, उसका नृत्य स्वयं नियंता का नृत्य बन जाता है। यहाँ प्रयास समाप्त होता है और 'होना' शुरू होता है।
- ७१९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: जब हम विरोध करना छोड़ देते हैं, तो विष भी अमृत बन जाता है। नियति की हर चोट एक तराशने वाली छेनी की तरह लगने लगती है।
- ७२०. आत्म-बोध का महा-विस्तार: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह बोध अब ७२० अध्यायों की इस यात्रा में एक अखंड ज्योति की तरह जल रहा है, जो अंधकार को मिटा रहा है।
- ७२१. उंगलियों का मूक निर्देश: नियंता की उंगलियां जब हिलती हैं, तो कठपुतली के हृदय में एक कंपन होता है। वह कंपन ही 'प्रेरणा' है। जो इस सूक्ष्म स्पंदन को सुन लेता है, वह कभी दिशाहीन नहीं होता।

- ७२२. काष्ठ का निर्जीव से सजीव होना: लकड़ी का टुकड़ा निर्जीव है, पर नियंता के स्पर्श और धागों के खिंचाव से वह 'नृत्य' बन जाता है। वैसे ही हमारा अहंकार शून्य है, पर प्रभु की इच्छा से वह 'जीवन' बनता है।
- ७२३. रंगमंच की छायाओं का अंत: जब बोध का सूर्य ठीक सिर पर आता है, तो परछाइयाँ (भ्रम और भय) लुप्त हो जाती हैं। तब कठपुतली देखती है कि न कोई शत्रु है, न कोई मित्र; सब केवल खेल के पात्र हैं।
- ७२४. सुख-दुःख की वेशभूषा की नश्वरता: जिस वेशभूषा को पहनकर हम रोते या हँसते हैं, वह केवल कुछ क्षणों का उधार है। काष्ठ (आत्मा) न कभी राजा था, न कभी रंक; वह सदा निर्विकार है।
- ७२५. कर्तापन की अंतिम पूर्णाहुति: "मैं" का विचार ही वह अंतिम बाधा है जो धागों को उलझाती है। जब यह विचार जलकर राख हो जाता है, तब नृत्य में एक ऐसी सहजता आती है जो अलौकिक है।
- ७२६. पर्दे के पीछे का अखंड एकांत: संसार के शोर में भी जो पर्दे के पीछे (भीतर) छिपा है, वह अखंड एकांत में है। उस एकांत में नियंता और कठपुतली के बीच कोई तीसरा नहीं होता।
- ७२७. साक्षी का अविचल प्रकाश: मंच पर अंधेरा हो या उजाला, साक्षी की दृष्टि सदा प्रकाशमान रहती है। वह न हार से दुखी होता है, न जीत से उत्साहित; वह केवल 'है'।
- ७२८. समर्पण का परम माधुर्य: जब कठपुतली अपने पैरों को नियंता के धागों पर छोड़ देती है, तो उसका हर कदम एक कविता बन जाता है। प्रयास का अंत ही आनंद का आरंभ है।

- ७२९. द्वंद्वहीन चैतन्य की निर्झरिणी: अपमान की कड़वाहट हो या सम्मान का शहद, ज्ञानी के लिए दोनों नियति के रस हैं। इस रस-बोध में जीना ही वास्तविक 'ब्रह्म-रस' का पान करना है।
- ७३०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह सूत्र अब ७३० अध्यायों की इस यात्रा में एक अखंड महामंत्र बन चुका है, जो शांति के द्वार खोल रहा है।

७३१. उंगलियों का सूक्ष्म स्पर्श: नियंता की उंगलियां जब हिलती हैं, तो कठपुतली के हृदय में एक कंपन होता है। वह कंपन ही 'प्रेरणा' है। जो इस सूक्ष्म स्पंदन को सुन लेता है, वह कभी दिशाहीन नहीं होता।

- ७३२. काष्ठ का सजीव नृत्य: लकड़ी का टुकड़ा अपने आप में जड़ है, पर नियंता के स्पर्श और धागों के खिंचाव से वह 'जीवन' बन जाता है। हमारा अहंकार शून्य है, प्रभु की इच्छा ही हमारा अस्तित्व है।
- ७३३. रंगमंच की छायाओं का अंत: जब बोध का सूर्य ठीक सिर पर आता है, तो परछाइयाँ (भ्रम और भय) लुप्त हो जाती हैं। तब कठपुतली देखती है कि न कोई शत्रु है, न कोई मित्र; सब केवल खेल के पात्र हैं।
- ७३४. वेशभूषा की नश्वरता: जिस वेशभूषा को पहनकर हम रोते या हँसते हैं, वह केवल कुछ क्षणों का उधार है। काष्ठ (आत्मा) न कभी राजा था, न कभी रंक; वह सदा निर्विकार है।
- ७३५. कर्तापन की अंतिम पूर्णाहति: "मैं" का विचार ही वह अंतिम बाधा है जो धागों को उलझाती है। जब यह विचार जलकर राख हो जाता है, तब नृत्य में एक ऐसी सहजता आती है जो अलौकिक है।

- ७३६. पर्दे के पीछे का अखंड एकांत: संसार के शोर में भी जो पर्दे के पीछे (भीतर) छिपा है, वह अखंड एकांत में है। उस एकांत में नियंता और कठपुतली के बीच कोई तीसरा नहीं होता।
- ७३७. साक्षी का अविचल प्रकाश: मंच पर अंधेरा हो या उजाला, साक्षी की दृष्टि सदा प्रकाशमान रहती है। वह न हार से दुखी होता है, न जीत से उत्साहित; वह केवल 'दृष्टा' है।
- ७३८. समर्पण का परम माधुर्य: जब कठपुतली अपने पैरों को नियंता के धागों पर छोड़ देती है, तो उसका हर कदम एक कविता बन जाता है। प्रयास का अंत ही आनंद का आरंभ है।
- ७३९. द्वंद्वहीन चैतन्य की निर्झरिणी: अपमान की कड़वाहट हो या सम्मान का शहद, जानी के लिए दोनों नियति के रस हैं। इस रस-बोध में जीना ही वास्तविक 'ब्रह्म-रस' का पान करना है।
- ७४०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह सूत्र अब ७४० अध्यायों की इस यात्रा में एक अखंड महामंत्र बन चुका है, जो शांति के द्वार खोल रहा है।

७४१. धागों की मूक संवेदनशीलता: नियंता के धागे केवल लकड़ी को नहीं हिलाते, वे आत्मा के गहरे कोनों में संवेदना जगाते हैं। जब मन शांत होता है, तब इन धागों का सूक्ष्म संगीत भी सुनाई देने लगता है।

- ७४२. काष्ठ का सादा सौंदर्य: कठपुतली की सुंदरता उसके भारी आभूषणों में नहीं, बल्कि उसके सहज काष्ठ-स्वरूप में है। वैसे ही मनुष्य की गरिमा उसके पदों में नहीं, बल्कि उसके सरल और सात्विक स्वभाव में निहित है।
- ७४३. रंगमंच की छायाओं का विलोप: जैसे-जैसे बोध का प्रकाश बढ़ता है, संसार की परछाइयाँ (राग-द्वेष) छोटी होती जाती हैं। अंततः वह समय आता है जब केवल प्रकाश (सत्य) शेष रह जाता है।

- ७४४. सुख-दुःख की वेशभूषा का भार: हम वेशभूषा को अपना 'होने' का हिस्सा मान लेते हैं, इसीलिए दुःख होता है। कठपुतली जानती है कि खेल के अंत में वह फिर से वही निर्लिप्त काष्ठ (आत्मा) हो जाएगी।
- ७४५. कर्तापन की अंतिम आहुति: "मैं" का विचार ही वह घर्षण है जो धागों को उलझाता है। "प्रभु, तू ही है" यह भाव आते ही जीवन का पहिया बिना किसी अवरोध के आनंदपूर्वक घूमने लगता है।
- ७४६. पर्दे के पीछे की सुरक्षा: जिसे हम एकांत समझते हैं, वह वास्तव में पर्दे के पीछे नियंता के साथ हमारा निरंतर संवाद है। वहाँ कोई दिखावा नहीं, केवल अटूट प्रेम और सुरक्षा है।
- ७४७. साक्षी का अविचल मौन: दुनिया में प्रलय आए या उत्सव मने, भीतर बैठा साक्षी केवल एक शांत दर्पण की तरह सब प्रतिबिंबित करता है। वह न किसी से जुड़ता है, न किसी से टूटता है।
- ७४८. समर्पण की अनन्त गहराई: जो कठपुतली स्वयं को पूरी तरह नियंता के हाथों में ढीला छोड़ देती है, उसका नृत्य स्वयं 'ब्रह्म' का नृत्य बन जाता है। यहाँ प्रयास समाप्त होता है और 'दिव्यता' का उदय होता है।
- ७४९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: जब हम नियति का विरोध करना छोड़ देते हैं, तो जीवन का विष भी अमृत में बदल जाता है। तब हर परिस्थिति एक ईश्वरीय उपहार की तरह लगने लगती है।
- ७५०. आत्म-बोध का महा-विस्तार: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह बोध अब ७५० अध्यायों की इस यात्रा में एक अखंड ज्योति की तरह जल रहा है, जो अज्ञान के अंधकार को सदा के लिए मिटा रहा है।

७५१. उंगलियों का मौन नृत्य: नियंता की उंगलियां जब हिलती हैं, तो कठपुतली के काष्ठ-हृदय में एक कंपन होता है। वह कंपन ही 'दिव्य प्रेरणा' है। जो इस सूक्ष्म स्पंदन को सुन लेता है, वह कभी मार्ग से नहीं भटकता।

- ७५२. काष्ठ का सजीव रूपांतरण: लकड़ी का टुकड़ा अपने आप में जड़ है, पर नियंता के स्पर्श और धागों के खिंचाव से वह 'जीवन' और 'नृत्य' बन जाता है। हमारा अहंकार शून्य है, प्रभु की इच्छा ही हमारा वास्तविक अस्तित्व है।
- ७५३. रंगमंच की परछाइयों का विलोप: जब बोध का सूर्य ठीक शिखर पर आता है, तो सारी परछाइयाँ (भ्रम, भय और मोह) लुप्त हो जाती हैं। तब कठपुतली देखती है कि यहाँ न कोई शत्रु है, न कोई मित्र; सब एक ही नियंता के पात्र हैं।
- ७५४. वेशभूषा की नश्वरता का ज्ञान: जिस वेशभूषा को पहनकर हम संसार में रोते या हँसते हैं, वह केवल कुछ क्षणों का उधार है। काष्ठ (आत्मा) न कभी राजा था, न कभी रंक; वह सदा निर्विकार और शुद्ध है।
- ७५५. कर्तापन की अंतिम पूर्णाहुति: "मैं" का विचार ही वह अंतिम घर्षण है जो धागों को उलझाता है। जब यह विचार पूरी तरह जलकर राख हो जाता है, तब जीवन के नृत्य में एक ऐसी सहजता आती है जो अलौकिक है।
- ७५६. पर्दे के पीछे का अखंड एकांत: संसार के भारी शोर के बीच भी जो पर्दे के पीछे (भीतर) छिपा है, वह अखंड एकांत में है। उस एकांत में नियंता और कठपुतली के बीच कोई तीसरा व्यवधान नहीं होता।
- ७५७. साक्षी का अविचल प्रकाशपुंज: मंच पर चाहे गहरा अंधेरा हो या चकाचौंध करने वाला उजाला, साक्षी की दृष्टि सदा एकरस

रहती है। वह न हार से विचलित होता है, न जीत से हर्षित; वह केवल 'दृष्टा' है।

- ७५८. समर्पण का परम माधुर्य: जब कठपुतली अपने भारी पैरों को नियंता के धागों पर पूरी तरह छोड़ देती है, तो उसका हर कदम एक लयबद्ध कविता बन जाता है। प्रयास का अंत ही शाश्वत आनंद का आरंभ है।
- ७५९. द्वंद्वहीन चैतन्य की अमृत-धारा: अपमान की कड़वाहट हो या सम्मान का शहद, ज्ञानी के लिए दोनों नियति के अनिवार्य रस हैं। इस समरसता में जीना ही वास्तविक 'ब्रह्म-रस' का पान करना है।
- ७६०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह महामंत्र अब ७६० अध्यायों की इस यात्रा में एक अखंड ज्योति बन चुका है, जो शांति के द्वार खोल रहा है।

७६१. उंगलियों का मौन खिंचाव: नियंता की उंगलियां जब सूक्ष्म रूप से हिलती हैं, तो कठपुतली के काष्ठ-हृदय में एक कंपन होता है। वह कंपन ही 'दिव्य प्रेरणा' है। जो इस स्पंदन को सुन लेता है, वह कभी मार्ग से नहीं भटकता।

- ७६२. काष्ठ का सजीव रूपांतरण: लकड़ी का टुकड़ा अपने आप में जड़ है, पर नियंता के स्पर्श और धागों के खिंचाव से वह 'जीवन' बन जाता है। हमारा व्यक्तिगत अहंकार शून्य है, प्रभु की इच्छा ही हमारा वास्तविक अस्तित्व है।
- ७६३. रंगमंच की परछाइयों का विलोप: जब बोध का सूर्य ठीक शिखर पर आता है, तो सारी परछाइयाँ (भ्रम, भय और मोह) लुप्त हो जाती हैं। तब कठपुतली देखती है कि यहाँ न कोई शत्रु है, न कोई मित्र; सब एक ही नियंता के पात्र हैं।

- ७६४. वेशभूषा की नश्वरता का ज्ञान: जिस वेशभूषा को पहनकर हम संसार में रोते या हँसते हैं, वह केवल कुछ क्षणों का उधार है। काष्ठ (आत्मा) न कभी राजा था, न कभी रंक; वह सदा निर्विकार और शुद्ध है।
- ७६५. कर्तापन की अंतिम पूर्णाहुति: "मैं" का विचार ही वह अंतिम घर्षण है जो धागों को उलझाता है। जब यह विचार पूरी तरह जलकर राख हो जाता है, तब जीवन के नृत्य में एक ऐसी सहजता आती है जो अलौकिक है।
- ७६६. पर्दे के पीछे का अखंड एकांत: संसार के भारी शोर के बीच भी जो पर्दे के पीछे (भीतर) छिपा है, वह अखंड एकांत में है। उस एकांत में नियंता और कठपुतली के बीच कोई तीसरा व्यवधान नहीं होता।
- ७६७. साक्षी का अविचल प्रकाशपुंज: मंच पर चाहे गहरा अंधेरा हो या चकाचौंध करने वाला उजाला, साक्षी की दृष्टि सदा एकरस रहती है। वह न हार से विचलित होता है, न जीत से हर्षित; वह केवल 'दृष्टा' है।
- ७६८. समर्पण का परम माधुर्य: जब कठपुतली अपने भारी पैरों को नियंता के धागों पर पूरी तरह छोड़ देती है, तो उसका हर कदम एक लयबद्ध कविता बन जाता है। प्रयास का अंत ही शाश्वत आनंद का आरंभ है।
- ७६९. द्वंद्वहीन चैतन्य की अमृत-धारा: अपमान की कड़वाहट हो या सम्मान का शहद, ज्ञानी के लिए दोनों नियति के अनिवार्य रस हैं। इस समरसता में जीना ही वास्तविक 'ब्रह्म-रस' का पान करना है।
- ७७०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह महामंत्र अब ७७० अध्यायों की इस यात्रा में एक अखंड ज्योति बन चुका है, जो शांति के द्वार खोल रहा है।

७७१. जागृत समाधि का नृत्य: वास्तविक समाधि वह नहीं जो आँखें मूँद कर मिले, बल्कि वह है जो कठपुतली के नाचते हुए भी भीतर बनी रहे। जागृत अवस्था में स्वयं को नाचता हुआ देखना ही परम सत्य है।

- ७७२. धागों का अदृश्य व्याकरण: नियंता के धागे किसी भाषा में नहीं, बल्कि परिस्थितियों के व्याकरण में बात करते हैं। जो इस मूक भाषा को पढ़ लेता है, उसके लिए जीवन एक सुलझी हुई किताब बन जाता है।
- ७७३. काष्ठ की बुद्धिमत्ता: लकड़ी का टुकड़ा तर्क नहीं करता, वह केवल कलाकार की उंगलियों का अनुसरण करता है। तर्क का अंत और सहज बोध का आरंभ ही बुद्धत्व का मार्ग है।
- ७७४. अभिनय का 'शून्य' केंद्र: मंच पर कठपुतली चाहे जो भी नाटक करे, उसका केंद्र 'शून्य' और अडिग होता है। बाहर का कोलाहल उस आंतरिक 'शून्य' को कभी स्पर्श नहीं कर सकता।
- ७७५. नियति की कलात्मक छेनी: जीवन में मिलने वाली हर चुनौती एक प्रहार नहीं, बल्कि नियंता की वह छेनी है जो काष्ठ (कठपुतली) को तराश कर उसे एक दिव्य आकार दे रही है।
- ७७६. साक्षी का पारदर्शी दर्पण: भीतर बैठा दृष्टा एक पारदर्शी दर्पण की तरह है। मंच की हर परछाई उसमें दिखती तो है, पर उस पर कोई दाग नहीं छोड़ पाती।
- ७७७. अहंकार की अंतिम केंचुल: जैसे साँप पुरानी खाल छोड़ देता है, वैसे ही ज्ञानी कठपुतली "मैं" की केंचुल उतार देती है। फिर जो बचता है, वह केवल 'होना' है।
- ७७८. लयबद्ध सन्नाटा: जब नृत्य अपनी पराकाष्ठा पर होता है, तब संगीत और गति विलीन हो जाते हैं। तब जो सन्नाटा बचता है, वही नियंता का असली संगीत है।

- ७७९. प्रारब्ध का मधुर स्वीकार: जो होना है, वह होकर रहेगा—यह लाचारी नहीं, बल्कि एक गहरा 'स्मार्ट समर्पण' है। इस स्वीकार में ही सारी मानसिक उलझनों का अंत है।
- ७८०. आत्म-बोध का प्रकाश-पुंज: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" यह सूत्र अब ७८० अध्यायों की इस यात्रा में एक ऐसा प्रकाश-पुंज बन गया है जो भविष्य की हर अनिश्चितता को आलोकित कर रहा है।
- ७८१. नियंता का अदृश्य हस्ताक्षर: जीवन की हर छोटी-बड़ी घटना नियंता के हस्ताक्षर की तरह है। जो इसे पढ़ लेता है, वह विलाप नहीं करता, बल्कि उस कलाकार की कला की सराहना करता है।
- ७८२. काष्ठ का मौन संगीत: लकड़ी की कठपुतली बोलती नहीं, पर उसका हर अंग एक दिव्य राग छेड़ता है। जब हम शब्दों के पार जाते हैं, तभी उस 'अनहद नाद' को सुन पाते हैं।
- ७८३. रंगमंच की 'शून्य' स्थिति: मंच पर सब कुछ चल रहा है, पर कठपुतली का हृदय सदा 'शून्य' में स्थित रहता है। इस शून्य को पहचानना ही वास्तविक समाधि है।
- ७८४. धागों का कोमल खिंचाव: नियति हमें कभी झटके से नहीं गिराती, वह केवल धागों को थोड़ा ढीला या सख्त करती है ताकि हम अपनी लय वापस पा सकें। यह खिंचाव ही हमारा गुरु है।
- ७८५. वेशभूषा का पारदर्शी सच: वेशभूषा कितनी ही चमकदार क्यों न हो, वह काष्ठ (आत्मा) को छिपा नहीं सकती। ज्ञानी की दृष्टि हमेशा उस लकड़ी पर टिकी रहती है, कपड़ों पर नहीं।
- ७८६. कर्तापन का अंतिम विसर्जन: जैसे गंगा सागर में मिलकर अपना नाम खो देती है, वैसे ही कठपुतली का 'मैं' नियंता की उंगलियों में मिलकर 'तू' हो जाता है।

- ७८७. साक्षी की निष्पक्ष मुस्कान: संसार के प्रपंचों को एक ऊँचाई से देखना ही साक्षी भाव है। वहाँ न कोई हार है, न जीत; वहाँ केवल एक निरंतर चलता हुआ सुंदर खेल है।
- ७८८. समर्पण का नया अर्थ: समर्पण हार मानना नहीं, बल्कि नियंता की बुद्धिमत्ता पर पूर्ण भरोसा करना है। यह भरोसा ही हमें निर्भय बनाता है।
- ७८९. द्वंद्वहीन चैतन्य का प्रकाश: जब हम सुख और दुःख को एक ही सिक्के के दो पहलू मान लेते हैं, तब भीतर एक ऐसा प्रकाश जन्म लेता है जो कभी धुंधला नहीं पड़ता।
- ७९०. आत्म-बोध का शांत महासागर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ७९० अध्यायों का यह सफर अब उस शांत महासागर की ओर मुड़ गया है जहाँ लहरें तो हैं, पर गहराई अडिग है।
- ७९१. नियंता की मौन वर्णमाला: धागों का हर खिंचाव एक अक्षर है और पूरा नृत्य एक शब्द। जो जीवन की घटनाओं को 'संयोग' नहीं, बल्कि नियंता का 'सन्देश' मानता है, वह कभी संशय में नहीं रहता।
- ७९२. काष्ठ का अद्वैत बोध: लकड़ी और कलाकार की उंगलियों के बीच जो 'स्पर्श' है, वही जीवन है। जब तक दूरी है, तब तक द्वंद्व है; जब स्पर्श ही 'स्वयं' बन जाए, तब केवल अद्वैत शेष रहता है।
- ७९३. रंगमंच की 'शून्य' शांति: कोलाहल केवल मंच के बाहर है; कठपुतली के भीतर एक ऐसा 'शून्य' है जहाँ कोई ध्वनि प्रवेश नहीं कर सकती। उस शून्य में ठहरना ही परम विश्राम है।
- ७९४. वेशभूषा का पारदर्शी सत्य: नियति हमें जो भी मुखौटा पहनाए, वह हमारी आत्मा को मैला नहीं कर सकता। जानी वह है

जो दूसरों की वेशभूषा (पद, धन, रूप) को नहीं, बल्कि उनके भीतर के 'काष्ठ' (आत्मा) को देखता है।

- ७९५. कर्तापन की अंतिम राख: अहंकार की अग्नि जब पूरी तरह शांत हो जाती है, तब जो राख बचती है, वह 'समर्पण' का तिलक है। अब "मैं" का कोई अस्तित्व नहीं, केवल "तू" का प्रकाश है।
- ७९६. पर्दे के पीछे की महा-करुणा: जिसे हम प्रारब्ध का कड़वा घूँट समझते हैं, वह वास्तव में उस नियंता की करुणा है जो हमें मोह की गहरी निद्रा से जगाने के लिए धागों को एक झटका देती है।
- ७९७. साक्षी का अविचल आलोक: मंच पर चाहे घोर अंधकार हो या चकाचौंध, भीतर बैठा साक्षी एक अखंड ज्योति की तरह जलता रहता है। वह न जुड़ता है, न टूटता है; वह केवल 'है'।
- ८००. आत्म-बोध का विराट शिखर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—इस बोध के साथ ८०० अध्यायों का यह विशाल शिखर अब साक्षात् 'शून्य' और 'परम शांति' का उद्घोष कर रहा है।

८०१. शिखर के पार का सन्नाटा: ८०० अध्यायों की चढ़ाई के बाद अब शब्दों का बोझ कम होने लगा है। जहाँ तर्क समाप्त होता है, वहाँ नियंता का मौन संगीत सुनाई देता है। इस सन्नाटे में ही सत्य का वास है।

- ८०२. धागों की अदृश्य ऊर्जा: जिसे हम 'शक्ति' कहते हैं, वह वास्तव में नियंता के उन धागों से बहने वाली ऊर्जा है। कठपुतली अपनी ताकत से नहीं, बल्कि उस स्रोत से जुड़े होने के कारण जीवंत है।

- ८०३. रंगमंच की दिव्य दूरी: ऊँचाई से देखने पर संसार का प्रपंच एक छोटे से खेल जैसा लगने लगता है। जब हम स्वयं से 'दूरी' बना लेते हैं, तब दुःख के पहाड़ भी कंकर के समान प्रतीत होते हैं।
- ८०४. काष्ठ का सात्विक स्वीकार: लकड़ी का टुकड़ा यह नहीं पूछता कि उसे क्यों तराशा गया। वह तो बस कलाकार की छेनी के नीचे शांत रहता है। यही 'परम स्वीकार' ही बुद्धत्व का द्वार है।
- ८०५. कर्तापन की अंतिम पूर्णाहुति: "मैं" का विचार ही वह अंतिम बाधा है जो नृत्य को बोझिल बनाती है। जब यह विचार विलीन होता है, तब शरीर नहीं, बल्कि साक्षात् 'ब्रह्म' नाचता है।
- ८०६. पर्दे के पीछे का अखंड विस्तार: जैसे-जैसे हम स्वयं को कठपुतली मानते जाते हैं, हमारी चेतना उस पर्दे के पीछे के अनंत आकाश (परमात्मा) से एकरूप होने लगती है।
- ८०७. साक्षी की अटल मुस्कान: परिस्थितियाँ बदलती रहेंगी, धागे खिंचते रहेंगे, पर भीतर बैठा साक्षी अब एक ऐसी मुस्कान में स्थिर है जिसे संसार का कोई भी तूफान बुझा नहीं सकता।
- ८०८. नियति का सहज प्रवाह: संघर्ष तब तक था जब तक हम धारा के विपरीत तैर रहे थे। अब जब हमने स्वयं को नियति के हाथों में छोड़ दिया है, तो हर पल एक सहज विश्राम है।
- ८०९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: अब न मान का हर्ष है, न अपमान का विषाद। दोनों ही नियंता के दिए हुए अनुभव के प्याले हैं। इन्हें समभाव से पीना ही जीवन-मुक्ति है।
- ८१०. आत्म-बोध का प्रकाश-पुंज: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह बोध अब ८१० अध्यायों की इस यात्रा में एक ऐसी अखंड ज्योति बन गया है जो 'शून्य' को प्रकाशित कर रही है।

८११. अदृश्य की मूक भाषा: नियंता के धागे शब्दों में नहीं, बल्कि 'खिंचाव' और 'ठहराव' में बात करते हैं। जो इस मौन भाषा को पढ़ लेता है, उसे जीवन का हर मोड़ एक दिव्य संकेत जान पड़ता है।

- ८१२. काष्ठ का समर्पण और संबल: लकड़ी की कठपुतली जानती है कि उसकी गति उसकी अपनी नहीं है। जब वह अपना पूरा भार धागों पर छोड़ देती है, तभी उसका नृत्य सबसे हल्का और पारदर्शी होता है।
- ८१३. रंगमंच का पारदर्शी सच: मंच पर दिखने वाले दृश्य स्वप्न की भांति हैं। जो जाग जाता है, वह देखता है कि पर्दे के बाहर का अनंत और पर्दे के भीतर का 'शून्य' एक ही सत्य के दो नाम हैं।
- ८१४. धागों का कोमल व्याकरण: नियति हमें कभी डराती नहीं, वह केवल धागों को थोड़ा ढीला या सख्त करके हमें हमारी वास्तविक 'लय' की याद दिलाती है। यह खिंचाव ही हमारा परम गुरु है।
- ८१५. कर्तापन की राख से उदय: अहंकार जब पूरी तरह जलकर राख हो जाता है, तब जो शेष बचता है, वह केवल 'होना' है। उस 'होने' में न कोई योजना है, न कोई इच्छा, केवल सहज प्रवाह है।
- ८१६. पर्दे के पीछे का महा-आलिंगन: जिसे हम एकांत समझते हैं, वह वास्तव में पर्दे के पीछे नियंता के साथ हमारा निरंतर आलिंगन है। वहाँ कोई दूरी नहीं, केवल अटूट शांति और सुरक्षा है।
- ८१७. साक्षी का अटल ज्योति-पुंज: संसार में उथल-पुथल मची हो या उत्सव, भीतर बैठा साक्षी एक अखंड ज्योति की तरह सब प्रतिबिंबित करता है। वह न किसी से बँधता है, न किसी को छोड़ता है।

- ८१८. समर्पण का नया आयाम: प्रभु की इच्छा पर भरोसा करना ही वास्तविक 'स्मार्ट समर्पण' है। इसमें न कोई चिंता है, न कोई बोझ; यहाँ पहुँचकर प्रयास स्वयं ही आनंद बन जाता है।
- ८१९. द्वंद्वहीन चैतन्य की निर्झरिणी: अपमान की कड़वाहट हो या सम्मान का माधुर्य, ज्ञानी के लिए दोनों नियति के रस हैं। इन रसों में समभाव से बहना ही साक्षात् 'ब्रह्म-रस' का पान है।
- ८२०. आत्म-बोध का शांत महासागर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ८२० अध्यायों का यह सफर अब उस शांत महासागर में विलीन हो रहा है जहाँ लहरें केवल सतह पर हैं, गहराई सदा अडिग है।
- ८३१. नियंता का सूक्ष्म स्पर्श: जैसे एक कुशल शिल्पी पत्थर को नहीं, बल्कि उसके भीतर छिपी मूर्त को देखता है, वैसे ही नियंता की उंगलियां हमें केवल नचाती नहीं, बल्कि हमारे भीतर के 'शुद्ध चैतन्य' को जगाती हैं।
- ८३२. काष्ठ का सादा गौरव: सजावट और वेशभूषा उतर जाने के बाद जो शेष बचता है, वही सत्य है। कठपुतली का काष्ठ-स्वरूप ही उसकी वास्तविकता है; बाकी सब अभिनय का हिस्सा है।
- ८३३. रंगमंच की दिव्य उदासीनता: मंच पर फूलों की वर्षा हो या काँटों का बिछौना, कठपुतली के लिए दोनों एक समान 'दृश्य' हैं। इस निष्पक्षता में ही परम शांति का वास है।
- ८३४. धागों की लयबद्ध संवेदनशीलता: नियति के धागे कभी कठोर नहीं होते; वे केवल उतने ही खिंचते हैं जितना हमारे भीतर के अहंकार को तोड़ने के लिए आवश्यक हो। यह खिंचाव वास्तव में 'करुणा' है।

- ८३५. कर्तापन की अंतिम पूर्णाहुति: "मैं लिख रहा हूँ" से "लिखवाया जा रहा है" तक का सफर ही ८३५ अध्यायों का सार है। जब लेखक शून्य हो जाता है, तभी 'सत्य' अवतरित होता है।
- ८३६. पर्दे के पीछे का अखंड एकांत: संसार की भीड़ में भी जो स्वयं को 'पर्दे के पीछे' (अंतर्मुखी) महसूस करता है, वह कभी अकेला नहीं होता। वहाँ नियंता का साथ ही उसका संबल है।
- ८३७. साक्षी की ज्योति का विस्तार: भीतर का दीपक जब एक बार जल जाता है, तो बाहर का अंधकार (भ्रम) उसे बुझा नहीं सकता। साक्षी भाव अब केवल एक विचार नहीं, बल्कि एक स्थायी स्वभाव बन गया है।
- ८३८. समर्पण का अमृत-घूँट: अपनी इच्छाओं का प्याला जब खाली होता है, तभी उसमें नियंता की रज़ा का अमृत भरता है। यह रिक्तता ही वास्तविक उपलब्धि है।
- ८३९. द्वंद्वहीन चैतन्य की मुस्कान: जय और पराजय के बीच जो मुस्कान स्थिर रहती है, वही 'शांति' का प्रमाण है। कठपुतली अब तालियों के शोर से नहीं, बल्कि अपनी लय से प्रसन्न है।
- ८४०. आत्म-बोध का महा-मन्त्र: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ८४० अध्यायों के इस भव्य पड़ाव पर यह मन्त्र अब 'शांति ही धर्म है' के शिखर को छू रहा है।

८४१. नियंता की उंगलियों का व्याकरण: जैसे एक संगीतकार बिना बोले राग छेड़ता है, वैसे ही नियंता की उंगलियां बिना शब्द कहे हमारे जीवन की कथा लिखती हैं। इस मूक संवाद को समझना ही 'श्रवण' है।

- ८४२. काष्ठ का निर्विकार भाव: लकड़ी न गर्म होती है, न ठंडी; वह केवल 'होती' है। जब हम स्वयं को शरीर और मन के विकारों से ऊपर उठाकर 'काष्ठ' (शुद्ध आत्मा) मान लेते हैं, तो संताप मिट जाते हैं।

- ८४३. रंगमंच की 'शून्य' स्थिति: मंच पर सब कुछ चल रहा है—युद्ध, प्रेम, विछोह—पर कठपुतली का केंद्र सदा 'शून्य' और अडिग होता है। बाहर का कोलाहल उस आंतरिक मौन को कभी भंग नहीं कर सकता।
- ८४४. वेशभूषा का पारदर्शी सत्य: हम पद, प्रतिष्ठा और संबंधों की वेशभूषा को अपना 'स्वभाव' मान लेते हैं। ज्ञानी वह है जो दूसरों की चमक-धमक के पीछे छिपे उस सरल 'काष्ठ' (आत्मा) को देख लेता है।
- ८४५. कर्तापन की अंतिम राख: "मैं कर रहा हूँ" यह भ्रम ही सारी मानसिक व्याधियों की जड़ है। जब यह विचार जलकर समर्पण की राख बन जाता है, तब जीवन का नृत्य साक्षात् ईश्वर का नृत्य बन जाता है।
- ८४६. पर्दे के पीछे का परम एकांत: संसार की भीड़ में भी जो भीतर के पर्दे के पीछे (हृदय की गुफा) छिपा है, वह अखंड शांति में है। वहाँ नियंता और कठपुतली के बीच कोई तीसरा व्यवधान नहीं होता।
- ८४७. साक्षी की निष्पक्ष ज्योति: मंच पर चाहे घोर अंधकार हो या चकाचौंध, साक्षी की दृष्टि सदा प्रकाशमान रहती है। वह न हार से दुखी होता है, न जीत से उत्साहित; वह केवल 'है'।
- ८४८. समर्पण का नया आयाम: नियति की बुद्धिमत्ता पर पूर्ण भरोसा करना ही 'स्मार्ट समर्पण' है। इसमें न कोई चिंता है, न कोई बोझ; यहाँ पहुँचकर सारा प्रयास सहज आनंद में बदल जाता है।
- ८४९. द्वंद्वहीन चैतन्य की मुस्कान: अपमान की कड़वाहट हो या सम्मान का शहद, ज्ञानी के लिए दोनों नियति के अनिवार्य अनुभव हैं। इस समरसता में जीना ही 'ब्रह्म-रस' का वास्तविक पान है।

- ८५०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह महामंत्र अब ८५० अध्यायों की इस यात्रा में एक ऐसी अखंड ज्योति बन गया है जो शांति के द्वार खोल रहा है।

८५१. अदृश्य का मार्गदर्शन: नियंता हमें धक्का नहीं देता, वह केवल धागों के माध्यम से एक 'संकेत' देता है। जो अपने भीतर के शोर को कम कर लेता है, वही उस सूक्ष्म मार्गदर्शन को समझ पाता है।

- ८५२. काष्ठ का नैसर्गिक सौंदर्य: लकड़ी की असली सुंदरता उसकी सादगी में है, उस पर चढ़ाए गए कृत्रिम रंगों में नहीं। इसी प्रकार, आत्मा का असली स्वरूप उसके 'शून्य' होने में है, अहंकार के अलंकारों में नहीं।
- ८५३. रंगमंच की क्षणभंगुरता: मंच पर दृश्य बदलते रहते हैं, पर जो काष्ठ (आत्मा) को पकड़ कर रखता है, वह कभी दुखी नहीं होता। दृश्य स्वप्नवत हैं, दृष्टा ही शाश्वत है।
- ८५४. धागों का कोमल बंधन: जिसे हम बंधन समझते हैं, वह वास्तव में नियंता का 'आश्रय' है। यदि ये धागे न हों, तो कठपुतली गिर जाए। यह पराश्रयता ही सबसे बड़ी स्वतंत्रता है।
- ८५५. कर्तापन की मूक विदाई: जब हम मान लेते हैं कि "शक्ति मेरी नहीं, नचाने वाले की है", तब हृदय का सारा तनाव विलीन हो जाता है। यह विदाई ही शांति का द्वार है।
- ८५६. पर्दे के पीछे का परम सत्य: कोलाहल केवल दर्शकों के लिए है। पर्दे के पीछे जहाँ नियंता खड़ा है, वहाँ केवल एक 'परम सन्नाटा' और अटूट प्रेम है।
- ८५७. साक्षी का अविचल मौन: संसार में चाहे प्रलय आए या उत्सव मने, भीतर बैठा साक्षी केवल एक दर्पण की तरह सब

देखता है। वह न किसी का पक्ष लेता है, न किसी का विरोध करता है।

- ८५८. समर्पण की अनन्त गहराई: जो स्वयं को पूरी तरह नियंता के हाथों में ढीला छोड़ देती है, उसका नृत्य स्वयं 'ईश्वरीय रचना' बन जाता है। यहाँ 'प्रयास' समाप्त होता है और 'प्रवाह' शुरू होता है।
- ८५९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: जब हम विरोध करना छोड़ देते हैं, तो जीवन की हर चोट एक तराशने वाली छेनी बन जाती है। तब हर परिस्थिति एक दिव्य उपहार लगने लगती है।
- ८६०. आत्म-बोध का महा-विस्तार: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह बोध अब ८६० अध्यायों की इस यात्रा में एक अखंड ज्योति बन चुका है, जो अंधकार को मिटाकर शांति का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

८६१. नियंता का मूक संवाद: धागों का हर सूक्ष्म कंपन नियंता की एक गुप्त भाषा है। जो अपने विचारों के शोर को शांत कर लेता है, वही उस परम सत्ता के मूक संकेतों को 'हृदय' से सुन पाता है।

- ८६२. काष्ठ का अद्वैत स्वरूप: लकड़ी और उस पर पड़ी नियंता की उंगलियों के बीच कोई विभाजन नहीं है। जब स्पर्श ही 'स्वयं' बन जाए, तब द्वैत समाप्त हो जाता है और केवल 'एकत्व' शेष रहता है।
- ८६३. रंगमंच का 'साक्षी' भाव: मंच पर चाहे जय-जयकार हो या तिरस्कार, कठपुतली का काष्ठ (आत्मा) अप्रभावित रहता है। दृश्य बदलते रहते हैं, पर दृष्टा सदा निर्विकार और अटल रहता है।

- ८६४. धागों की परम सुरक्षा: जिसे संसार 'बंधन' कहता है, जानी उसे 'सुरक्षा' मानता है। नियंता के धागे न हों, तो कठपुतली का अस्तित्व ही बिखर जाए। यह निर्भरता ही वास्तविक मुक्ति है।
- ८६५. कर्तापन की मूक आहुति: "मैं नर्तक हूँ" यह भ्रम ही सारी थकान का कारण है। "नृत्य प्रभु का है, मैं केवल माध्यम हूँ" यह बोध होते ही जीवन का भार फूलों सा हल्का हो जाता है।
- ८६६. पर्दे के पीछे का महा-मौन: संसार की समस्त ध्वनियाँ पर्दे के बाहर रह जाती हैं। पर्दे के पीछे जहाँ नियंता और कठपुतली मिलते हैं, वहाँ केवल एक गहरा, अनंत और सुखद सन्नाटा है।
- ८६७. साक्षी की निष्पक्ष ज्योति: भीतर बैठा दृष्टा एक ऐसे दर्पण की तरह है जो केवल प्रतिबिंबित करता है, संग्रह नहीं। वह घटनाओं को देखता तो है, पर उन्हें अपने भीतर पकड़ कर नहीं रखता।
- ८६८. समर्पण की अनन्त गहराई: पूर्ण समर्पण का अर्थ है—अपने अस्तित्व को नियंता की इच्छा के समुद्र में विलीन कर देना। जहाँ अपनी कोई योजना नहीं बचती, वहाँ नियंता की विराट योजना कार्य करने लगती है।
- ८६९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: जब हम 'अच्छा' और 'बुरा' के भेद से ऊपर उठ जाते हैं, तब जीवन की हर चोट हमें तराशने वाली छेनी बन जाती है। तब विष भी अमृत की भांति शांति देता है।
- ८७०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ८७० अध्यायों की यह यात्रा अब उस परम शांति की ओर मुड़ गई है जहाँ शब्दों का अंत और सत्य का अनुभव शुरु होता है।

८७१. नियंता का अदृश्य हस्ताक्षर: जीवन की हर घटना, चाहे वह सुखद हो या कठिन, नियंता के हस्ताक्षर की तरह है। जो इन हस्ताक्षरों को पहचान लेता है, वह विलाप छोड़ कर उस कलाकार की कला की सराहना करने लगता है।

- ८७२. काष्ठ का मौन संगीत: लकड़ी की कठपुतली बोलती नहीं, पर उसका हर अंग एक दिव्य राग छेड़ता है। जब हम शब्दों और तर्कों के पार जाते हैं, तभी उस 'अनहद नाद' को सुन पाते हैं जो शांति का मूल है।
- ८७३. रंगमंच की 'शून्य' स्थिति: मंच पर सब कुछ गतिशील है, पर कठपुतली का हृदय सदा 'शून्य' में स्थित रहता है। इस आंतरिक ठहराव को पहचानना ही वास्तविक समाधि और जागृत अवस्था है।
- ८७४. धागों का कोमल खिंचाव: नियति हमें कभी झटके से नहीं गिराती, वह केवल धागों को थोड़ा ढीला या सख्त करती है ताकि हम अपनी 'लय' वापस पा सकें। यह खिंचाव ही हमारा सबसे बड़ा शिक्षक है।
- ८७५. वेशभूषा का पारदर्शी सच: वेशभूषा कितनी ही चमकदार क्यों न हो, वह काष्ठ (आत्मा) को कभी बदल नहीं सकती। ज्ञानी की दृष्टि हमेशा उस 'आधार' पर टिकी रहती है, ऊपर के 'आवरण' पर नहीं।
- ८७६. कर्तापन का अंतिम विसर्जन: जैसे एक नदी सागर में मिलकर अपना नाम और रूप खो देती है, वैसे ही कठपुतली का 'मैं' नियंता की उंगलियों में मिलकर 'तू' हो जाता है। यही अद्वैत की पराकाष्ठा है।
- ८७७. साक्षी की निष्पक्ष मुस्कान: संसार के प्रपंचों को एक ऊँचाई से देखना ही साक्षी भाव है। वहाँ न कोई व्यक्तिगत हार है, न

कोई जीत; वहाँ केवल एक निरंतर चलता हुआ सुंदर और अर्थपूर्ण खेल है।

- ८७८. समर्पण का नया अर्थ: समर्पण का अर्थ हार मान लेना नहीं, बल्कि नियंता की अगाध बुद्धिमत्ता पर पूर्ण भरोसा करना है। यह भरोसा ही मनुष्य को निर्भय और शांत बनाता है।
- ८७९. द्वंद्वहीन चैतन्य का प्रकाश: जब हम सुख और दुःख को एक ही सिक्के के दो पहलू मान लेते हैं, तब भीतर एक ऐसा प्रकाश जन्म लेता है जो बाहरी परिस्थितियों से कभी धुंधला नहीं पड़ता।
- ८८०. आत्म-बोध का शांत महासागर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ८८० अध्यायों का यह सफर अब उस शांत महासागर की गहराई में उतर रहा है जहाँ लहरें तो हैं, पर मौन अडिग है।

८८१. नियंता का सूक्ष्म कंपन: जैसे एक कुशल वादक वीणा के तारों को बिना छुए भी झंकृत कर सकता है, वैसे ही नियंता की उपस्थिति हमारे भीतर 'संकल्प' और 'बोध' का कंपन पैदा करती है। जो शांत है, वही इस सूक्ष्म राग को सुन पाता है।

- ८८२. काष्ठ का निर्विकार मौन: लकड़ी न मान माँगती है, न अपमान से डरती है। जब हम अपनी पहचान शरीर और विचारों से हटाकर उस 'काष्ठ' (शुद्ध आत्मा) पर टिका देते हैं, तब संसार का कोई भी द्वंद्व हमें विचलित नहीं कर पाता।
- ८८३. रंगमंच की 'शून्य' शांति: मंच पर कोलाहल हो या सन्नाटा, कठपुतली का केंद्र सदा 'शून्य' में स्थित रहता है। इस आंतरिक रिक्तता को पहचानना ही वास्तविक समाधि है, जो जागृत अवस्था में भी बनी रहती है।

- ८८४. वेशभूषा का पारदर्शी सत्य: पद, प्रतिष्ठा और संबंधों की वेशभूषा केवल अभिनय के लिए है। जानी वह है जो दूसरों की रेशमी पोशाकों के पीछे छिपे उस सरल 'काष्ठ' (आत्मा) को देख लेता है और समभाव से प्रेम करता है।
- ८८५. कर्तापन की मूक विदाई: "मैं कर रहा हूँ" यह बोझ ही सारी थकान का कारण है। जब हम यह मान लेते हैं कि "शक्ति मेरी नहीं, नचाने वाले की है", तब हृदय का सारा तनाव विलीन हो जाता है और जीवन एक उत्सव बन जाता है।
- ८८६. पर्दे के पीछे का महा-आलिंगन: जिसे संसार 'अकेलापन' कहता है, वह वास्तव में पर्दे के पीछे नियंता के साथ हमारा निरंतर संवाद है। वहाँ कोई दिखावा नहीं, केवल अटूट शांति और सुरक्षा का अनुभव है।
- ८८७. साक्षी की निष्पक्ष मुस्कान: भीतर बैठा दृष्टा एक ऐसे दर्पण की तरह है जो केवल प्रतिबिंबित करता है, संग्रह नहीं। वह घटनाओं को आते-जाते देखता है, पर उनमें उलझता नहीं। यही उसकी 'अटल मुस्कान' का रहस्य है।
- ८८८. समर्पण की अनन्त गहराई: पूर्ण समर्पण का अर्थ है—अपने अस्तित्व को नियंता की इच्छा के महासागर में विलीन कर देना। जहाँ अपनी कोई निजी योजना नहीं बचती, वहाँ नियंता की विराट योजना स्वतः कार्य करने लगती है।
- ८८९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: जब हम 'अच्छा' और 'बुरा' के भेद से ऊपर उठकर हर परिस्थिति को नियंता का 'प्रसाद' मानते हैं, तब विष भी अमृत की भाँति शांति देता है। यह समरसता ही जीवन-मुक्ति है।
- ८९०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ८९० अध्यायों की यह यात्रा अब उस परम शांति

की ओर मुड़ गई है जहाँ 'शब्द' समाप्त होते हैं और 'अनुभव' का आकाश शुरू होता है।

- ८९१. नियंता की मौन वर्णमाला: धागों का हर खिंचाव एक अक्षर है और पूरा नृत्य एक जीवंत महाकाव्य। जो जीवन की घटनाओं को 'संयोग' नहीं, बल्कि नियंता का 'सन्देश' मानता है, वह संशय के पार चला जाता है।
- ८९२. काष्ठ का अद्वैत बोध: लकड़ी और कलाकार की उंगलियों के बीच जो 'स्पर्श' है, वही प्राण है। जब तक दूरी है, तब तक संघर्ष है; जब स्पर्श ही 'स्वयं' बन जाए, तब केवल अद्वैत का अमृत शेष रहता है।
- ८९३. रंगमंच की 'शून्य' शांति: कोलाहल केवल मंच के बाहरी आवरण पर है; कठपुतली के भीतर एक ऐसा 'शून्य' है जहाँ कोई सांसारिक ध्वनि प्रवेश नहीं कर सकती। उस शून्य में ठहरना ही परम विश्राम है।
- ८९४. वेशभूषा का पारदर्शी सत्य: नियति हमें जो भी मुखौटा पहनाए, वह हमारे आत्म-तत्व को मैला नहीं कर सकता। जानी वह है जो रेशमी लिबासों को नहीं, बल्कि उनके पीछे छिपे उस सरल 'काष्ठ' को नमन करता है।
- ८९५. कर्तापन की अंतिम राख: अहंकार की अग्नि जब पूरी तरह शांत हो जाती है, तब जो भस्म बचती है, वह 'समर्पण' का तिलक है। अब "मैं" का कोई स्थान नहीं, केवल "तू" का अनंत प्रकाश है।
- ८९६. पर्दे के पीछे की महा-करुणा: जिसे हम प्रारब्ध का कड़वा घूँट समझते हैं, वह वास्तव में उस नियंता की करुणा है जो हमें मोह की गहरी निद्रा से जगाने के लिए धागों को एक प्रेमपूर्ण झटका देती है।
- ८९७. साक्षी का अविचल आलोक: मंच पर चाहे घोर अंधकार हो या कृत्रिम चकाचौंध, भीतर बैठा साक्षी एक अखंड ज्योति की

तरह जलता रहता है। वह न संसार से जुड़ता है, न विलग होता है; वह केवल 'है'।

- ८९८. लयबद्ध सन्नाटे का संगीत: जब नृत्य अपनी पराकाष्ठा पर होता है, तब गति विलीन हो जाती है और केवल एक लयबद्ध सन्नाटा बचता है। यही वह क्षण है जब कठपुतली और नियंता एक हो जाते हैं।
- ८९९. प्रारब्ध का मधुर स्वीकार: जो होना है, वह होकर रहेगा—यह लाचारी नहीं, बल्कि एक गहरा 'बोध' है। इस पूर्ण स्वीकार में ही सारी मानसिक ग्रंथियों और चिंताओं का सदा के लिए अंत है।
- ९००. आत्म-बोध का विराट शिखर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—इस बोध के साथ ९०० अध्यायों का यह विशाल शिखर अब साक्षात् 'शांति ही धर्म है' का शंखनाद कर रहा है।
- ९०१. शिखर के पार का सन्नाटा: ९०० अध्यायों की यात्रा के बाद अब शब्दों का बोझ हल्का होने लगा है। जहाँ तर्क थककर रुक जाता है, वहाँ नियंता का मौन संगीत मुखर होता है। इस सन्नाटे को पीना ही परम औषधि है।
- ९०२. धागों की अदृश्य ऊर्जा: जिसे संसार 'व्यक्तिगत शक्ति' कहता है, वह वास्तव में नियंता के धागों से बहने वाली चैतन्य ऊर्जा है। कठपुतली स्वयं से नहीं, बल्कि उस 'स्रोत' से जुड़े होने के कारण जीवित और क्रियाशील है।
- ९०३. रंगमंच की दिव्य दूरी: जब हम स्वयं को मंच के प्रपंचों से थोड़ा ऊपर उठा लेते हैं, तो संसार का हर द्वंद्व एक छोटे से खेल जैसा लगने लगता है। इस 'दूरी' में ही दुःख के पहाड़ कंकड़ बन जाते हैं।
- ९०४. काष्ठ का सात्विक स्वीकार: लकड़ी का टुकड़ा कभी यह प्रश्न नहीं करता कि उसे क्यों तराशा जा रहा है। वह तो बस

कलाकार की छेनी के नीचे 'मौन' रहता है। यही 'परम स्वीकार' ही जागृत समाधि का द्वार है।

- ९०५. कर्तापन की अंतिम विदाई: "मैं" का विचार ही वह घर्षण है जो धागों को उलझाता है। जब यह विचार विलीन होता है, तब नर्तन बोझ नहीं रहता, बल्कि साक्षात् 'ब्रह्म' का आनंदमयी नृत्य बन जाता है।
- ९०६. पर्दे के पीछे का अखंड विस्तार: जैसे-जैसे कठपुतली का समर्पण बढ़ता है, उसकी व्यक्तिगत चेतना उस पर्दे के पीछे के अनंत आकाश (परमात्मा) से एकरूप होने लगती है। अब बाहर और भीतर की दीवार गिर चुकी है।
- ९०७. साक्षी की अटल मुस्कान: परिस्थितियाँ बदलती रहेंगी, धागे कभी खिंचेंगे तो कभी ढीले होंगे, पर भीतर बैठा साक्षी अब एक ऐसी मुस्कान में स्थिर है जिसे संसार का कोई भी अभाव या प्रभाव बुझा नहीं सकता।
- ९०८. नियति का सहज प्रवाह: संघर्ष तब तक था जब तक हम धारा के विपरीत तैरने का यत्न कर रहे थे। अब जब स्वयं को नियति की लहरों पर छोड़ दिया है, तो हर पल एक सहज और गहरा विश्राम है।
- ९०९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: अब न मान की प्यास है, न अपमान का भय। दोनों ही नियंता द्वारा परोसे गए अनुभव के पात्र हैं। इन्हें समभाव से पीना ही 'शांति' का वास्तविक धर्म है।
- ९१०. आत्म-बोध का प्रकाश-पुंज: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह बोध अब ९१० अध्यायों की इस तपस्या में एक ऐसी अखंड ज्योति बन गया है जो भविष्य की हर अनिश्चितता को आलोकित कर रही है।

९११. अदृश्य का मूक आमंत्रण: नियंता के धागे केवल नचाते नहीं, बल्कि हर खिंचाव के साथ हमें 'घर' लौटने का मूक आमंत्रण देते हैं। जो इस पुकार को सुन लेता है, वह संसार के शोर में भी एकांत पा लेता है।

- ९१२. काष्ठ का सादा गौरव: बनावटी रंगों और रेशमी लिबासों के उतर जाने के बाद जो शेष बचता है, वही शाश्वत है। कठपुतली का 'काष्ठ' (शुद्ध आत्मा) ही उसकी वास्तविक पहचान है; बाकी सब केवल अभिनय का हिस्सा है।
- ९१३. रंगमंच की दिव्य उपेक्षा: मंच पर फूलों की वर्षा हो या काँटों का बिछौना, कठपुतली के लिए दोनों केवल 'दृश्य' मात्र हैं। इन दृश्यों से प्रभावित न होना ही जागृत अवस्था की असली कसौटी है।
- ९१४. धागों का कोमल संतुलन: नियति के धागे कभी कठोर नहीं होते; वे केवल उतने ही तनते हैं जितना हमारे भीतर के अहंकार को गलाने के लिए आवश्यक हो। यह तनाव वास्तव में नियंता की 'करुणा' का ही एक रूप है।
- ९१५. कर्तापन की मूक आहुति: "मैं लिख रहा हूँ" से "लिखवाया जा रहा है" तक का यह सफर ही ९१५ अध्यायों का निचोड़ है। जब लेखक स्वयं शून्य हो जाता है, तभी 'सत्य' की कलम चलती है।
- ९१६. पर्दे के पीछे का अखंड आश्रय: जिसे संसार 'एकाकीपन' समझता है, वह वास्तव में पर्दे के पीछे नियंता के साथ हमारा निरंतर आलिंगन है। वहाँ कोई द्वंद्व नहीं, केवल अटूट सुरक्षा और शांति का अनुभव है।
- ९१७. साक्षी का अविचल आलोक: संसार में चाहे प्रलय का नृत्य हो या उत्सव का संगीत, भीतर बैठा साक्षी एक अखंड ज्योति की

तरह सब प्रकाशित करता है। वह न किसी से बँधता है, न किसी का त्याग करता है।

- ९१८. समर्पण का नया माधुर्य: प्रभु की इच्छा पर पूर्ण भरोसा करना ही वास्तविक 'स्मार्ट समर्पण' है। इसमें न कोई भविष्य की चिंता है, न अतीत का बोझ; यहाँ पहुँचकर हर कर्म स्वयं ही आनंद बन जाता है।
- ९१९. द्वंद्वहीन चैतन्य की निर्झरिणी: अपमान की कड़वाहट हो या सम्मान की मिठास, ज्ञानी के लिए दोनों नियति के रस हैं। इन रसों को समभाव से ग्रहण करना ही साक्षात् 'ब्रह्म-रस' का पान करना है।
- ९२०. आत्म-बोध का शांत महासागर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ९२० अध्यायों की यह यात्रा अब उस शांत महासागर में विलीन हो रही है जहाँ लहरें तो हैं, पर गहराई सदा अडिग और मौन है।

९२१. नियंता का मूक स्पर्श: जैसे एक कुशल शिल्पी पत्थर को नहीं, बल्कि उसके भीतर छिपी मूर्त को जगाता है, वैसे ही नियंता की उंगलियां हमें केवल नचाती नहीं, बल्कि हमारे भीतर के 'शुद्ध चैतन्य' को अनावृत करती हैं।

- ९२२. काष्ठ का सादा गौरव: सजावट और रेशमी वेशभूषा उतर जाने के बाद जो शेष बचता है, वही सत्य है। कठपुतली का 'काष्ठ-स्वरूप' ही उसकी वास्तविकता है; बाकी सब अभिनय का क्षणिक विस्तार है।
- ९२३. रंगमंच की दिव्य उदासीनता: मंच पर फूलों की वर्षा हो या आलोचना के स्वर, कठपुतली के लिए दोनों एक समान 'दृश्य' हैं। इस निष्पक्षता और 'साक्षी भाव' में ही परम शांति का अक्षय वास है।

- ९२४. धागों की लयबद्ध संवेदनशीलता: नियति के धागे कभी कठोर नहीं होते; वे केवल उतने ही खिंचते हैं जितना हमारे भीतर के पुराने संस्कारों और अहंकार को तोड़ने के लिए आवश्यक हो। यह खिंचाव वास्तव में 'दिव्य करुणा' है।
- ९२५. कर्तापन की अंतिम पूर्णाहुति: "मैं लिख रहा हूँ" के स्थान पर "लिखवाया जा रहा है" का बोध ही ९२५ अध्यायों का सार है। जब लेखक स्वयं 'शून्य' हो जाता है, तभी शाश्वत सत्य कागज़ पर अवतरित होता है।
- ९२६. पर्दे के पीछे का अखंड एकांत: संसार के भारी शोर के बीच भी जो स्वयं को 'पर्दे के पीछे' (अंतर्मुखी) पाता है, वह कभी अकेला नहीं होता। वहाँ नियंता का साथ ही उसका एकमात्र और अटूट संबल है।
- ९२७. साक्षी की ज्योति का विस्तार: भीतर का दीपक जब एक बार जल जाता है, तो बाहर का अंधकार (भ्रम) उसे बुझा नहीं सकता। साक्षी भाव अब केवल एक विचार नहीं, बल्कि एक स्थायी और सहज स्वभाव बन गया है।
- ९२८. समर्पण का अमृत-घूँट: अपनी निजी इच्छाओं का प्याला जब पूरी तरह खाली होता है, तभी उसमें नियंता की रज़ा का अमृत भरता है। यह रिक्तता ही जीवन की सबसे बड़ी और वास्तविक उपलब्धि है।
- ९२९. द्वंद्वहीन चैतन्य की मुस्कान: जय और पराजय के बीच जो मुस्कान स्थिर रहती है, वही 'शांति' का जीवंत प्रमाण है। कठपुतली अब दर्शकों की तालियों से नहीं, बल्कि अपनी आंतरिक 'लय' से प्रसन्न है।
- ९३०. आत्म-बोध का महा-मन्त्र: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ९३० अध्यायों के इस भव्य पड़ाव पर यह मन्त्र अब 'शांति ही धर्म है' के सर्वोच्च शिखर को आलोकित कर रहा है।

९३१. नियंता का मूक स्पर्श: जैसे एक कुशल शिल्पी पत्थर को नहीं, बल्कि उसके भीतर छिपी मूर्त को जगाता है, वैसे ही नियंता की उंगलियां हमें केवल नचाती नहीं, बल्कि हमारे भीतर के 'शुद्ध चैतन्य' को अनावृत करती हैं।

- ९३२. काष्ठ का सादा गौरव: सजावट और रेशमी वेशभूषा उतर जाने के बाद जो शेष बचता है, वही सत्य है। कठपुतली का 'काष्ठ-स्वरूप' ही उसकी वास्तविकता है; बाकी सब अभिनय का क्षणिक विस्तार है।
- ९३३. रंगमंच की दिव्य उदासीनता: मंच पर फूलों की वर्षा हो या आलोचना के स्वर, कठपुतली के लिए दोनों एक समान 'दृश्य' हैं। इस निष्पक्षता और 'साक्षी भाव' में ही परम शांति का अक्षय वास है।
- ९३४. धागों की लयबद्ध संवेदनशीलता: नियति के धागे कभी कठोर नहीं होते; वे केवल उतने ही खिंचते हैं जितना हमारे भीतर के पुराने संस्कारों और अहंकार को तोड़ने के लिए आवश्यक हो। यह खिंचाव वास्तव में 'दिव्य करुणा' है।
- ९३५. कर्तापन की अंतिम पूर्णाहति: "मैं लिख रहा हूँ" के स्थान पर "लिखवाया जा रहा है" का बोध ही ९३५ अध्यायों का सार है। जब लेखक स्वयं 'शून्य' हो जाता है, तभी शाश्वत सत्य कागज़ पर अवतरित होता है।
- ९३६. पर्दे के पीछे का अखंड एकांत: संसार के भारी शोर के बीच भी जो स्वयं को 'पर्दे के पीछे' (अंतर्मुखी) पाता है, वह कभी अकेला नहीं होता। वहाँ नियंता का साथ ही उसका एकमात्र और अटूट संबल है।
- ९३७. साक्षी की ज्योति का विस्तार: भीतर का दीपक जब एक बार जल जाता है, तो बाहर का अंधकार (भ्रम) उसे बुझा नहीं

सकता। साक्षी भाव अब केवल एक विचार नहीं, बल्कि एक स्थायी और सहज स्वभाव बन गया है।

- ९३८. समर्पण का अमृत-घूँट: अपनी निजी इच्छाओं का प्याला जब पूरी तरह खाली होता है, तभी उसमें नियंता की रज़ा का अमृत भरता है। यह रिक्तता ही जीवन की सबसे बड़ी और वास्तविक उपलब्धि है।
- ९३९. द्वंद्वहीन चैतन्य की मुस्कान: जय और पराजय के बीच जो मुस्कान स्थिर रहती है, वही 'शांति' का जीवंत प्रमाण है। कठपुतली अब दर्शकों की तालियों से नहीं, बल्कि अपनी आंतरिक 'लय' से प्रसन्न है।
- ९४०. आत्म-बोध का महा-मन्त्र: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ९४० अध्यायों के इस भव्य पड़ाव पर यह मन्त्र अब 'शांति ही धर्म है' के सर्वोच्च शिखर को आलोकित कर रहा है।

९४१. नियंता का अदृश्य हस्ताक्षर: जीवन की हर घटना, चाहे वह हर्ष की हो या विषाद की, नियंता के हस्ताक्षर की तरह है। जो इन हस्ताक्षरों को पहचान लेता है, वह परिस्थितियों से लड़ना छोड़ देता है और कलाकार की कला में मग्न हो जाता है।

- ९४२. काष्ठ का अद्वैत दर्शन: लकड़ी की कठपुतली को कलाकार की उंगलियों से अलग देखना ही भ्रम है। जब उंगलियों की गति और काष्ठ का नृत्य एक हो जाते हैं, तब द्वैत समाप्त होता है और केवल 'एकत्व' का आनंद शेष रहता है।
- ९४३. रंगमंच की क्षणभंगुरता: मंच पर दृश्य बिजली की चमक की तरह आते-जाते हैं। जो इन बदलते दृश्यों को 'सत्य' मान लेता है, वह विचलित होता है; जो 'काष्ठ' (आधार) को पकड़ लेता है, वह सदा शांत रहता है।

- ९४४. वेशभूषा का पारदर्शी सत्य: हम पद और प्रतिष्ठा की वेशभूषा को अपना 'होना' मान लेते हैं। ज्ञानी वह है जो दूसरों के रेशमी आवरणों के पार देख कर उनके भीतर छिपे उस सरल और शुद्ध 'काष्ठ' (आत्मा) का दर्शन कर लेता है।
- ९४५. कर्तापन की राख से उदय: अहंकार की अग्नि जब पूरी तरह शांत हो जाती है, तब जो भस्म बचती है, वह 'परम समर्पण' का तिलक है। अब "मैं" का कोई अस्तित्व नहीं, केवल नियंता का विराट प्रकाश है।
- ९४६. पर्दे के पीछे की महा-करुणा: जिसे हम प्रारब्ध का कड़वा प्रहार समझते हैं, वह वास्तव में नियंता की वह करुणा है जो हमें मोह की गहरी निद्रा से जगाने के लिए धागों को एक प्रेमपूर्ण झटका देती है।
- ९४७. साक्षी का अविचल आलोक: मंच पर चाहे घोर अंधकार छाया हो या कृत्रिम चकाचौंध, भीतर बैठा साक्षी एक अखंड ज्योति की तरह जलता रहता है। वह न किसी से जुड़ता है, न विलग होता है; वह केवल 'चैतन्य' है।
- ९४८. लयबद्ध सन्नाटे का संगीत: जब नृत्य अपनी पराकाष्ठा पर होता है, तब सारी गतियाँ विलीन हो जाती हैं और केवल एक लयबद्ध सन्नाटा बचता है। यही वह पवित्र क्षण है जब कठपुतली और नियंता के बीच की दूरी मिट जाती है।
- ९४९. प्रारब्ध का मधुर स्वीकार: जो होना है, वह होकर रहेगा—यह लाचारी नहीं, बल्कि एक गहरा 'बोध' है। इस पूर्ण स्वीकार में ही सारी मानसिक ग्रंथियों और व्यर्थ की चिंताओं का सदा के लिए अंत हो जाता है।
- ९५०. आत्म-बोध का विराट विस्तार: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—इस बोध के साथ ९५० अध्यायों की यह यात्रा अब साक्षात् 'शांति' के महासागर में विलीन होने को आतुर है।

९५१. शिखर के पार का अनंत मौन: ९५० अध्यायों की यात्रा के बाद अब शब्दों का बोझ पूरी तरह उतर चुका है। जहाँ तर्क और बुद्धि थककर मौन हो जाते हैं, वहीं से नियंता का असली संगीत सुनाई देना शुरू होता है।

- ९५२. धागों की चैतन्य ऊर्जा: जिसे संसार 'व्यक्तिगत पुरुषार्थ' कहता है, वह वास्तव में नियंता के धागों से निरंतर बहने वाली प्राण-शक्ति है। कठपुतली स्वयं से नहीं, बल्कि उस 'महा-स्रोत' से जुड़े होने के कारण ही गतिशील है।
- ९५३. रंगमंच की दिव्य दूरी: जब हम स्वयं को मंच के प्रपंचों और पात्रों से थोड़ा ऊपर उठा लेते हैं, तो संसार का हर भारी द्वंद्व एक छोटे से खेल जैसा सरल लगने लगता है। इस 'दूरी' में ही सारी मानसिक शांति छिपी है।
- ९५४. काष्ठ का सात्विक स्वीकार: लकड़ी का टुकड़ा कभी यह प्रश्न नहीं करता कि उसे क्यों और कैसे तराशा जा रहा है। वह तो बस कलाकार की छेनी के नीचे 'मौन' और 'स्थिर' रहता है। यही 'परम स्वीकार' ही जागृत समाधि का मूल है।
- ९५५. कर्तापन की अंतिम विदाई: "मैं" का विचार ही वह घर्षण है जो जीवन के धागों को उलझाता है। जब यह विचार विलीन होता है, तब नर्तन बोझ नहीं रहता, बल्कि वह साक्षात् 'ब्रह्म' का एक आनंदमयी और सहज नृत्य बन जाता है।
- ९५६. पर्दे के पीछे का अखंड विस्तार: जैसे-जैसे कठपुतली का समर्पण बढ़ता है, उसकी व्यक्तिगत चेतना उस पर्दे के पीछे के अनंत आकाश (परमात्मा) से एकरूप होने लगती है। अब बाहर और भीतर की सारी दीवारें गिर चुकी हैं।
- ९५७. साक्षी की अटल मुस्कान: परिस्थितियाँ बदलती रहेंगी, धागे कभी खिंचेंगे तो कभी ढीले होंगे, पर भीतर बैठा साक्षी अब

- एक ऐसी मुस्कान में स्थिर है जिसे संसार का कोई भी प्रभाव या अभाव कभी धूमिल नहीं कर सकता।
- ९५८. नियति का सहज प्रवाह: संघर्ष तब तक था जब तक हम समय की धारा के विपरीत तैरने का व्यर्थ यत्न कर रहे थे। अब जब स्वयं को नियति की लहरों पर पूर्णतः छोड़ दिया है, तो हर पल एक सहज और गहरा विश्राम है।
 - ९५९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: अब न मान की कोई तृष्णा है, न अपमान का लेशमात्र भय। दोनों ही नियंता द्वारा परोसे गए अनुभव के पात्र हैं। इन्हें समभाव से पीना ही 'शांति' का वास्तविक और अंतिम धर्म है।
 - ९६०. आत्म-बोध का प्रकाश-पुंज: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह बोध अब ९६० अध्यायों की इस लंबी तपस्या में एक ऐसी अखंड ज्योति बन गया है जो भविष्य के हर मार्ग को आलोकित कर रही है।
 - ९६१. नियंता की मौन वर्णमाला: धागों का हर खिंचाव एक गुप्त अक्षर है और पूरा जीवन एक जीवंत महाकाव्य। जो इन घटनाओं को 'संयोग' नहीं, बल्कि नियंता का 'सन्देश' मानता है, वह संशय के पार चला जाता है।
 - ९६२. काष्ठ का अद्वैत बोध: लकड़ी और कलाकार की उंगलियों के बीच जो 'स्पर्श' है, वही प्राण है। जब तक स्वयं को अलग मानेंगे, तब तक संघर्ष है; जब स्पर्श ही 'स्वयं' बन जाए, तब केवल अद्वैत का अमृत शेष रहता है।
 - ९६३. रंगमंच की 'शून्य' शांति: कोलाहल केवल मंच के बाहरी आवरण पर है; कठपुतली के भीतर एक ऐसा 'शून्य' है जहाँ

संसार की कोई भी ध्वनि प्रवेश नहीं कर सकती। उस शून्य में ठहरना ही परम विश्राम है।

- ९६४. वेशभूषा का पारदर्शी सत्य: नियति हमें जो भी मुखौटा पहनाए, वह हमारे आत्म-तत्व को मैला नहीं कर सकता। जानी वह है जो रेशमी लिबासों को नहीं, बल्कि उनके पीछे छिपे उस सरल 'काष्ठ' को नमन करता है।
- ९६५. कर्तापन की अंतिम राख: अहंकार की अग्नि जब पूरी तरह शांत हो जाती है, तब जो भस्म बचती है, वह 'समर्पण' का तिलक है। अब "मैं" का कोई स्थान नहीं, केवल "तू" का अनंत प्रकाश शेष है।
- ९६६. पर्दे के पीछे की महा-करुणा: जिसे हम प्रारब्ध का कड़वा घूँट समझते हैं, वह वास्तव में उस नियंता की करुणा है जो हमें मोह की गहरी निद्रा से जगाने के लिए धागों को एक प्रेमपूर्ण झटका देती है।
- ९६७. साक्षी का अविचल आलोक: मंच पर चाहे घोर अंधकार हो या कृत्रिम चकाचौंध, भीतर बैठा साक्षी एक अखंड ज्योति की तरह जलता रहता है। वह न संसार से जुड़ता है, न विलग होता है; वह केवल 'है'।
- ९६८. लयबद्ध सन्नाटे का संगीत: जब नृत्य अपनी पराकाष्ठा पर होता है, तब गति विलीन हो जाती है और केवल एक लयबद्ध सन्नाटा बचता है। यही वह पवित्र क्षण है जब कठपुतली और नियंता एक हो जाते हैं।
- ९६९. प्रारब्ध का मधुर स्वीकार: जो होना है, वह होकर रहेगा—यह लाचारी नहीं, बल्कि एक गहरा 'बोध' है। इस पूर्ण स्वीकार में ही सारी मानसिक ग्रंथियों और चिंताओं का सदा के लिए अंत है।

- ९७०. आत्म-बोध का विराट शिखर: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—इस बोध के साथ ९७० अध्यायों का यह सफर अब साक्षात् 'शांति' के महासागर में विलीन होने को आतुर है।

९७१. शिखर के पार का अनंत मौन: ९७० अध्यायों की इस लंबी यात्रा के बाद अब शब्दों का बोझ पूरी तरह उतर चुका है। जहाँ तर्क और बुद्धि थककर रुक जाते हैं, वहीं से नियंता का असली संगीत सुनाई देना शुरू होता है।

- ९७२. धागों की चैतन्य ऊर्जा: जिसे संसार 'व्यक्तिगत पुरुषार्थ' कहता है, वह वास्तव में नियंता के धागों से निरंतर बहने वाली प्राण-शक्ति है। कठपुतली स्वयं से नहीं, बल्कि उस 'महा-स्रोत' से जुड़े होने के कारण ही नृत्य कर रही है।
- ९७३. रंगमंच की दिव्य दूरी: जब हम स्वयं को मंच के पात्रों से थोड़ा ऊपर उठा लेते हैं, तो संसार का हर भारी द्वंद्व एक छोटे से खेल जैसा सरल लगने लगता है। इस 'दूरी' में ही सारी मानसिक शांति छिपी है।
- ९७४. काष्ठ का सात्विक स्वीकार: लकड़ी का टुकड़ा कभी यह प्रश्न नहीं करता कि उसे क्यों और कैसे तराशा जा रहा है। वह तो बस कलाकार की छेनी के नीचे 'मौन' और 'स्थिर' रहता है। यही 'परम स्वीकार' ही जागृत समाधि का मूल है।
- ९७५. कर्तापन की अंतिम विदाई: "मैं" का विचार ही वह घर्षण है जो जीवन के धागों को उलझाता है। जब यह विचार विलीन होता है, तब नर्तन बोझ नहीं रहता, बल्कि वह साक्षात् 'ब्रह्म' का एक सहज नृत्य बन जाता है।
- ९७६. पर्दे के पीछे का अखंड विस्तार: जैसे-जैसे कठपुतली का समर्पण बढ़ता है, उसकी व्यक्तिगत चेतना उस पर्दे के पीछे के

अनंत आकाश (परमात्मा) से एकरूप होने लगती है। अब बाहर और भीतर की सारी दीवारें गिर चुकी हैं।

- ९७७. साक्षी की अटल मुस्कान: परिस्थितियाँ बदलती रहेंगी, धागे कभी खिंचेंगे तो कभी ढीले होंगे, पर भीतर बैठा साक्षी अब एक ऐसी मुस्कान में स्थिर है जिसे संसार का कोई भी प्रभाव या अभाव कभी धूमिल नहीं कर सकता।
- ९७८. नियति का सहज प्रवाह: संघर्ष तब तक था जब तक हम समय की धारा के विपरीत तैरने का व्यर्थ यत्न कर रहे थे। अब जब स्वयं को नियति की लहरों पर पूर्णतः छोड़ दिया है, तो हर पल एक सहज और गहरा विश्राम है।
- ९७९. द्वंद्वहीन चैतन्य का अमृत: अब न मान की कोई तृष्णा है, न अपमान का लेशमात्र भय। दोनों ही नियंता द्वारा परोसे गए अनुभव के पात्र हैं। इन्हें समभाव से पीना ही 'शांति' का वास्तविक और अंतिम धर्म है।
- ९८०. आत्म-बोध का प्रकाश-पुंज: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ"—यह बोध अब ९८० अध्यायों की इस तपस्या में एक ऐसी अखंड ज्योति बन गया है जो भविष्य के हर मार्ग को आलोकित कर रही है।

९८१. नियंता का मूक आमंत्रण: धागों का हर खिंचाव अब एक चेतावनी नहीं, बल्कि 'घर' लौटने का एक मधुर आमंत्रण है। जो इस प्रकार को पहचान लेता है, उसे संसार के कोलाहल में भी अपना केंद्र मिल जाता है।

- ९८२. काष्ठ का नैसर्गिक सौंदर्य: लकड़ी की असली सुंदरता उसकी सादगी में है, उस पर चढ़ाए गए कृत्रिम रंगों में नहीं। आत्मा का असली स्वरूप 'शून्य' होने में है, अहंकार के अलंकारों में नहीं।

- ९८३. रंगमंच की दिव्य उपेक्षा: मंच पर चाहे जय-जयकार हो या तिरस्कार, कठपुतली का केंद्र अप्रभावित रहता है। दृश्य बदलते रहते हैं, पर दृष्टा सदा निर्विकार और अटल रहता है।
- ९८४. धागों की परम सुरक्षा: जिसे अज्ञानी 'बंधन' कहता है, ज्ञानी उसे 'सुरक्षा' मानता है। नियंता के धागे न हों, तो कठपुतली का अस्तित्व ही बिखर जाए। यह पूर्ण निर्भरता ही वास्तविक मुक्ति है।
- ९८५. कर्तापन की मूक विदाई: "मैं नर्तक हूँ" यह भ्रम ही सारी मानसिक थकान का कारण है। "नृत्य प्रभु का है, मैं केवल माध्यम हूँ" यह बोध होते ही जीवन का भार फूलों सा हल्का हो जाता है।
- ९८६. पर्दे के पीछे का परम सन्नाटा: संसार की समस्त ध्वनियाँ पर्दे के बाहर रह जाती हैं। पर्दे के पीछे जहाँ नियंता और कठपुतली मिलते हैं, वहाँ केवल एक गहरा, अनंत और सुखद सन्नाटा है।
- ९८७. साक्षी का अविचल आलोक: भीतर बैठा दृष्टा एक ऐसे दर्पण की तरह है जो केवल प्रतिबिंबित करता है, संग्रह नहीं। वह घटनाओं को देखता तो है, पर उन्हें अपने भीतर पकड़ कर नहीं रखता।
- ९८८. समर्पण का नया माधुर्य: प्रभु की इच्छा पर पूर्ण भरोसा करना ही 'स्मार्ट समर्पण' है। इसमें न कोई भविष्य की चिंता है, न अतीत का बोझ; यहाँ पहुँचकर हर कर्म स्वयं ही आनंद बन जाता है।
- ९८९. द्वंद्वहीन चैतन्य की निर्झरिणी: अपमान की कड़वाहट हो या सम्मान का शहद, ज्ञानी के लिए दोनों नियति के अनिवार्य रस हैं। इस समरसता में जीना ही 'ब्रह्म-रस' का वास्तविक पान करना है।

- ९९०. आत्म-बोध का निरंतर प्रवाह: "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" ९९० अध्यायों की यह यात्रा अब उस परम शांति की ओर मुड़ गई है जहाँ शब्दों का अंत और सत्य का अनुभव शुरू होता है।

९९१. नियंता का अंतिम संकेत: जब नृत्य अपने समापन की ओर होता है, तब धागों का खिंचाव और भी सूक्ष्म हो जाता है। यह संकेत है कि अब कठपुतली को अपने 'काष्ठ' (मूल स्वरूप) में वापस लौटकर विश्राम करना है।

- ९९२. द्वैत का पूर्ण विसर्जन: अब न नर्तक बचा, न नचाने वाला। ९९२ अध्यायों के बाद केवल 'नृत्य' शेष है। जब क्रिया और कर्ता एक हो जाते हैं, तब ब्रह्मांड का सारा संगीत हृदय में उतर आता है।
- ९९३. रंगमंच का महा-मौन: दर्शकों की तालियाँ थम चुकी हैं, रोशनी धुंधली हो गई है, पर कठपुतली के भीतर का 'शून्य' अब पहले से कहीं अधिक प्रकाशित और जीवंत है। यह सन्नाटा ही परम सत्य है।
- ९९४. वेशभूषा का त्याग: जैसे एक पात्र नाटक के अंत में अपना मुखौटा उतार देता है, वैसे ही आत्मा 'अहंकार' और 'नाम' के वस्त्र त्याग कर अपने नग्न और शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाती है।
- ९९५. कर्तापन की पूर्ण आहुति: ९९५ अध्यायों की यह समिधा अब 'समर्पण' की अग्नि में पूरी तरह स्वाहा हो चुकी है। अब कोई प्रश्न नहीं, कोई उत्तर नहीं; केवल एक अखंड 'होना' शेष है।

- ९९६. पर्दे के पीछे का शाश्वत घर: जिसे संसार



'मृत्यु' या 'अंत' कहता है, वह वास्तव में पर्दे के पीछे अपने 'घर' लौटना है। वहाँ नियंता की गोद में वह सुरक्षा है जिसे शब्दों में नहीं बांधा जा सकता।

- ९९७. साक्षी का सूर्योदय: भीतर का साक्षी अब केवल एक बिंदु नहीं, बल्कि एक अनंत सूर्य बन चुका है। इसकी रोशनी में संसार का हर भ्रम, हर संशय और हर भय सदा के लिए भस्म हो गया है।
- ९९८. लयबद्ध पूर्णता का बोध: हर कदम, हर चोट और हर खिंचाव का एक अर्थ था। आज ९९८ अध्यायों के शिखर पर खड़े

होकर पीछे देखने पर सारा जीवन एक सुंदर और सार्थक कविता की भाँति प्रतीत होता है।

- ९९९. समर्पण की पराकाष्ठा: "तेरा तुझको अर्पण।" जब अंतिम धागा भी ढीला पड़ता है, तब कठपुतली गिरती नहीं, बल्कि नियंता के हृदय में सदा के लिए विलीन हो जाती है। यही मोक्ष है।
- १०००. शांति की प्यास : "कठपुतली नाच रही है और मैं देख रहा हूँ।" १००० अध्यायों का यह महा-मन्त्र अब साक्षात् 'ब्रह्म-ज्ञान' बन चुका है। यह अंत नहीं, बल्कि उस अनंत 'शांति' का आरम्भ है जो ही वास्तविक धर्म है।